

चाणक्य सूत्र

दर्शन-साहित्य में अपनी बात को सूत्रों में कहने की अत्यंत प्राचीन परंपरा है। इन सूत्रों को कंठस्थ करना सरल होता है। आत्मचिंतन के लिए ये अत्यंत उपयोगी होते हैं। ये उन बीजों की तरह हैं, जो देखने में तो छोटे होते हैं, लेकिन जिनके गर्भ में विशाल वृक्ष की संभावना छिपी होती है। आचार्य चाणक्य ने नीति शास्त्र के सार को सूत्र रूप में इसीलिए प्रस्तुत किया है, ताकि उन्हें समझकर व्यवहार में उनसे लाभ उठाया जा सके।



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**



KAPWING



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**

KAPWING

॥ अर्थतोषिणं श्रीः परित्यजति ॥

जो राजा थोड़े-से धन से संतुष्ट हो जाता है, राज्य लक्ष्मी उसे त्याग देती है।

॥ यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः तं तस्मिन्नेव योजयेत् ॥

जो व्यक्ति जिस काम को करने में कुशल हो, उसे वही कार्य करने का भार सौंपना चाहिए।

॥ आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् ॥

शत्रु को अपनी दुर्बलताओं का परिचय नहीं देना चाहिए अर्थात् ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि अपनी दुर्बलताएं शत्रु पर प्रकट न हों।

॥ गुणे न मत्सरः कर्तव्यः ॥

दूसरे के अच्छे गुणों से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।

॥ सर्वावस्थासु माता भर्तव्या ॥

प्रत्येक अवस्था में माता का भरण-पोषण करना चाहिए।



॥ अथ चाणक्य सूत्रं प्रारभ्यते ॥

॥ नमः शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥

शुक्राचार्य और बृहस्पति को नमस्कार है! ॥१॥

**पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्रणि
पूर्वाचार्यैः**

प्रस्थापितानि संहत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।

पृथिवी की प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिए पुरातन आचार्यों ने जितने भी अर्थशास्त्र-विषयक ग्रंथों का निर्माण किया, उन सभी का सार-संकलन कर 'अर्थशास्त्र' (प्रस्तुत) की रचना की गई है। चाणक्य की दृष्टि में 'अर्थ' का तात्पर्य भूमि से है। इस प्रकार भूमि का संरक्षण और संवर्धन नीति शास्त्र का उद्देश्य है। 'कोष' इस अर्थ का एक आयाम है। ॥ 2 ॥

॥ सुखस्य मूलं धर्मः ॥

सुख धर्म से प्राप्त होता है अर्थात् धर्म मानवोचित कर्तव्यों का पालन ही सुख का मूल है।

संसार में प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है परंतु प्रत्येक व्यक्ति की सुख की अवधारणा पृथक् होती है। कोई व्यक्ति सुख केवल इसी बात में मानता है कि उसके पास धन हो जिससे वह अपनी इच्छाएं पूरी कर सके, सुख से रह सके, अच्छा मकान बना सके, कार रख सके और स्त्री का भोग कर सके आदि। किसी को सुख लिखने-पढ़ने में मिलता है। कोई अपनी संतान को अच्छा बनाने में ही सुख समझता है।

बहुत कम लोग जानते हैं कि वास्तविक सुख क्या है।

इस संबंध में भी मान्यताएं भिन्न हैं।

कोई शराब-मांस से बचता है, वेश्या के पास नहीं जाता। कोई अपना काम नियम से करता रहता है और इसी तरह जीवन बिता देता है। कोई बच्चों के पोषण में लगा रहता है और कोई देश-सेवा में सुख समझता है। कुछ लोग धार्मिक कृत्यों में ही सुख का अनुभव करते हैं। वह धार्मिक कार्यों में खूब बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं।

यह सब बातें सुख नहीं हैं, सुख का आभास मात्र हैं। मानवोचित कर्तव्यों का पालन करने से ही मनुष्य के धर्म का पालन होता है और यही धर्म-पालन सुख है। । 3 ।

॥ धर्मस्य मूलमर्थः ॥

धर्म का मूल है अर्थ। धर्म अर्थात् नीतिपूर्वक मानवोचित कार्यों को करते रहने से ही अर्थ की प्राप्ति होती है। अर्थ को सुरक्षित रखने के लिए राज्य-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण सहयोग होता है।

आचार्य चाणक्य ने अनेक स्थानों पर अर्थ की महत्ता को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि धन के बिना धर्म का पालन भी असंभव होता है। अर्थात् धन के बिना न तो मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति कर सकता है और न किसी प्रकार के कल्याणकारी कार्य। उन्होंने निर्धन व्यक्ति को संसार में सबसे निरीह बताया है। निर्धन व्यक्ति को किसी प्रकार का भी सुख प्राप्त नहीं होता और न ही वह अपने कर्तव्यों का पालन कर पाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि धर्म कार्यों के लिए धन का संग्रह करें।

धन तो पापी व्यक्ति के पास भी हो सकता है परंतु उसके पास धन होने से न तो उसे कोई लाभ हो सकता है और न ही संसार का किसी प्रकार का कल्याण। जिस धन का प्रयोग धर्म की रक्षा और मानव-कल्याण के लिए होता है, वास्तव में वही धन है, बाकी मिट्टी है। । 4 ।

॥ अर्थस्य मूलं राज्यम् ॥

अर्थ का मूल है राज्य। अर्थात् राज्य की सहायता अथवा व्यवस्था के बिना धन संग्रह करना कठिन है। धन संग्रह के लिए राज्य में स्थिरता और शांति स्थापित होना अत्यंत आवश्यक होता है। जब तक राज्य में अशान्ति रहती है तब तक राज्य संपन्न नहीं हो सकता।

जिन देशों अथवा राज्यों ने अपने प्रयत्नों द्वारा देश को विकसित और सम्पन्न बनाया है, उसमें वहां की सरकारों की प्रमुख भूमिका रही है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य अथवा सरकार व्यापारियों को अनेक प्रकार की सुविधाएं प्रदान करती है, जिससे राज्य संपन्न होता है। आज के विकसित राष्ट्र इस बात का प्रमाण हैं कि उन्होंने अपने व्यापारियों अथवा उद्योगपतियों को किस प्रकार प्रोत्साहन दिया अर्थात् यह बात स्पष्ट है कि किसी देश के लोगों का संपन्न होना उस देश की शासन-व्यवस्था पर निर्भर होता है। । 5 ।

॥ राज्यमूलमिन्द्रियजयः ॥

राज्य का मूल इंद्रियों को अपने वश में रखना है।

प्रत्येक राष्ट्र जो उन्नति करता है, वहां के सर्वोच्च पदाधिकारियों का कर्तव्य है कि वे अपनी इंद्रियों को वश में रखें। उनके संयम के कारण ही राज्य की समृद्धि स्थिर रह सकती है। यदि वहां के अधिकारी अथवा सर्वोच्च नेता किसी प्रकार का संयम नहीं रख सकेंगे तो जनता भी उनका अनुसरण करती हुई वैसा ही आचरण करेगी।

इंद्रियों पर संयम रखने का अर्थ काफी व्यापक है। अधिकारी सत्ता के नशे में निरंकुश होकर कार्य करने लगेंगे तो राज्य में विद्रोह पैदा हो जाएगा, इससे राज्य की हानि होगी।

आज भी हमारे सामने अनेक देशों के उदाहरण हैं, जहां के शासकों ने अपनी निरंकुशता के कारण राष्ट्रों को हानि पहुंचायी है। अनेक देशों में वहां के सर्वोच्च सत्ता पुरुष ने जनता पर इतने अत्याचार किए और स्वयं तथा अपने सगे-संबंधियों को राज्य में मनमाना कार्य करने की आजादी दी, जिससे राष्ट्र को क्षति उठानी पड़ी। बहुत से राजनेता भोग-विलास के कारण जनक्रोध का निशाना बने। बहुत से भ्रष्टाचार व स्वार्थपरता के कारण अपमानित हुए।

इंद्रियों पर विजय का अर्थ यही है कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं को सीमित रखे। इसे आत्मनियंत्रण भी कह सकते हैं। 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली बात है। राजपुरुष असंयमी, भ्रष्टाचारी व अकर्मण्य होंगे तो भला प्रजा इन दुराचरणों से अछूती कहां रह सकती है। । 6 ।

॥ इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः ॥

इंद्रियों को जीतने का सबसे मुख्य कारण नम्रता है।

मनुष्य विनयशील रहकर ही इंद्रियों को जीत सकता है। विनयशील रहने के लिए मनुष्य को सज्जन लोगों की संगति में रहना चाहिए। वस्तुतः गुणी मनुष्य ही विनयशील होते हैं। जिस प्रकार फलों से लदी हुई वृक्ष की शाखाएं नीचे की ओर झुक जाती हैं उसी प्रकार गुणवान व्यक्ति नम्र स्वभाव का होता है।

विनयशील व्यक्ति ही शिष्टाचार का प्रतीक हो सकता है। । 7 ।

॥ विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ॥

ज्ञान-वृद्धों की सेवा विनय का मूल है।

यहां वृद्ध का अर्थ आयु में बड़ा होना नहीं है परंतु ज्ञान की अधिकता से है। जो लोग विद्वान् हैं, जिन्हें संसार के महत्त्वपूर्ण विषयों का ज्ञान है, उन लोगों को ज्ञान-वृद्ध कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं कि ज्ञान-वृद्ध व्यक्ति की आयु बहुत अधिक हो। बहुत से छोटी आयु में

ही अपने प्रयत्न से अनेक विषयों और विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग ऐसे व्यक्तियों की सेवा में रहते हैं, वे ही विनयशील हो सकते हैं। विनयशील व्यक्ति विद्वानों, अपने माता-पिता आदि सभी का मान-सम्मान करता है। विद्वानों के पास जो ज्ञान-रूपी धन है उसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को नम्र होकर कुशलतापूर्वक उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। राज अथवा राज्य के अधिकारियों को भी विद्वान् लोगों के प्रति विनयशील रहते हुए उनकी सेवा करते हुए, उनसे ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। । 8 ।

॥ वृद्धसेवया विज्ञानम् ॥

मनुष्य वृद्धों की सेवा से ही व्यवहारकुशल होता है और उसे अपने कर्त्तव्य की पहचान होती है।

वृद्धों की सेवा से व्यक्ति को इस बात का पता चलता है कि कौन-सा कार्य करने योग्य है और कौन-सा न करने के योग्य। इसका भाव यह है कि वृद्ध व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में बहुत कुछ सीखा है, उसने बहुत मामलों में अनुभव प्राप्त किया होता है। यदि कोई व्यक्ति सांसारिक कार्य-व्यवहार में कुशलता प्राप्त करना चाहता है तो उसे बूढ़े व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए। उनके अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए। जो मनुष्य ज्ञान-वृद्ध लोगों के पास निरंतर उठता-बैठता है और उनमें श्रद्धा रखता है, वह ऐसे गुण सीख लेता है कि उसे समाज में अपने आचार-व्यवहार से सम्मान प्राप्त होता है। वह धोखेबाज और पाखंडी लोगों के चक्रव्यूह में नहीं फंसता।

इस सूत्र में जो 'विज्ञानम्' शब्द आया है उसका अर्थ केवल व्यवहारकुशल होना ही नहीं वरन् संसार की अनेक ऐसी बातें हैं जिनका ज्ञान वृद्ध लोगों के पास आने-जाने, उनके उपदेशों और उनकी संगति करने से प्राप्त होता है। वे अपने अनुभव से उनका जीवन सरल बनाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार विज्ञान का अर्थ एक व्यापक जानकारी से है। जिसकी प्राप्ति केवल पुस्तकों से ही संभव नहीं। क्योंकि उन्हें पढ़ने, समझने और ज्ञान प्राप्त करने में काफी समय लगता है। वृद्ध पुरुषों के पास जीवन का निचोड़ होता है, इसलिए वृद्धों की सेवा श्रद्धा और भक्तिपूर्वक करने से मनुष्य संसार के अनेक महत्त्वपूर्ण ज्ञान सरलतापूर्वक ग्रहण कर सकता है। । 9 ।

॥ विज्ञानेनात्मानं सम्पादयेत् ॥

राज्याभिलाषी लोग विज्ञान, व्यवहार-कुशलता या कर्त्तव्य का परिचय प्राप्त करके अपने आपको योग्य शासक बनाएं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको उन्नति के मार्ग में ले जाने के लिए ज्ञान-विज्ञान से संबंध बनाए। उसकी प्राप्ति का यत्न करे।

चाणक्य सूत्र की व्याख्या करने वाले अनेक व्यक्तियों ने इस सूत्र का अर्थ योग्य शासक बनाने की दिशा में किया है, परंतु यह सूत्र केवल शासकों के लिए ही नहीं,

जनसामान्य के लिए भी है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करने के बाद ही अपने को योग्य बना सकता है। यहां ज्ञान-विज्ञान का अर्थ व्यवहार-कुशलता से है, जो सभी के लिए है। किसी भी क्षेत्र में सर्वोच्च शिखर तक पहुंचने के लिए व्यक्ति को व्यवहार-कुशल होना चाहिए। । 10 ।

॥ सम्पादितात्मा जितात्मा भवति ॥

जो पुरुष ज्ञान-विज्ञान से संपन्न होता है, वह स्वयं को भी जीत सकता है, अर्थात् वही संसार में सफल होता है।

इस सूत्र के भी आधुनिक संदर्भ में दो अर्थ होते हैं—अर्थात् जो शासक सत्य के अनुसार आचरण करना सीख लेता है, वह अपनी इंद्रियों को जीत सकता है।

दूसरा अर्थ यह है कि जो सामान्यजन सत्य व्यवहार से परिचित हो जाता है, जिसे सत्य और असत्य का ज्ञान हो जाता है, वह अपनी इंद्रियों को जीत सकता है और आत्मविजयी हो सकता है। अज्ञानी मनुष्य अपने आप पर विजयी नहीं हो सकते, क्योंकि उसको सत्य और असत्य का ज्ञान नहीं होता, इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि अपने आप पर विजयी होने का प्रयत्न करे। अपने आप पर वही व्यक्ति नियंत्रण रख सकता है जिसे सांसारिक वास्तविकताओं का ज्ञान हो। जो स्वयं को जीत लेता है, वह संसार को जीत सकता है। सम्भवतः चाणक्य के कहने का यही तात्पर्य है। । 11 ।

॥ जितात्मा सर्वार्थः संयुज्येत् ॥

अपने ऊपर काबू पाने वाला मनुष्य सच्चे अर्थों से संपन्न होता है अर्थात् नीति जानने वाले और अपने ऊपर नियंत्रण रखने- वाले लोग अपने आप को समस्त संपत्तियों से संपन्न समझें।

जो व्यक्ति अपने आप को जीत लेता है अर्थात् अपने ऊपर नियंत्रण कर लेता है, उसकी यह विशेषता होती है कि वह जो कार्य अपने हाथ में लेता है उसे सम्पूर्ण करके ही छोड़ता है। ऐसे व्यक्ति ही धन-धान्य और संपत्तियों के स्वामी होते हैं। लक्ष्मी और सिद्धियां ऐसे व्यक्ति के वश में रहती हैं, जो जितेंद्रिय होता है। अर्थात् उसी व्यक्ति के पास धन इकट्ठा होता है, वही व्यक्ति संपत्तिशाली होता है जो अपने पर विजय प्राप्त कर लेता है। जो व्यक्ति, अपने पर नियंत्रण नहीं रखता वह संपत्तियों को प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् धनवान बनने के लिए व्यक्ति को अपने पर नियंत्रण रखना सीखना चाहिए। । 12 ।

॥ अर्थसम्पत् प्रकृतिसम्पदं करोति ॥

राज्य की संपदा से स्वभाववश प्रजा की संपत्तियों में भी वृद्धि होती है।

राजाओं के संपन्न होने से प्रजा के धन-धान्य में भी वृद्धि होती है, ऐसा स्वाभाविक

है। यदि राजा ही संपन्न नहीं होगा तो प्रजा कैसे संपन्न हो सकती है। दरिद्र राष्ट्र की प्रजा भी दरिद्र ही होती है।

यदि राज्य में अच्छी व्यवस्था स्थापित होती है तो राजा व प्रजा दोनों का ही संपन्न होना सरल हो जाता है। अव्यवस्था अथवा अशांति में किसी भी राष्ट्र अथवा व्यक्ति के संपन्न होने की संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं। अतः राष्ट्र को संपन्न बनाने के लिए वहां सुव्यवस्था का होना जरूरी है। इस संबंध में राजा अथवा प्रजा, प्रजा अथवा राजा दोनों एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं। यदि प्रजा दीन-दुखी और दरिद्र है तो राष्ट्र भी संपन्न नहीं कहला सकता। ।

13 ।

॥ प्रकृति सम्पदा ह्यनायकमपि राज्यं नीयते ॥

प्रकृति-संपत्ति से प्रजाजनों की गुण-वृद्धि के द्वारा नेता-रहित राज्य का भी संचालन किया जा सकता है।

भाव यह है कि किसी कारणवश यदि राजा का अभाव भी हो जाए तो ऐसी स्थिति में यदि प्रजा नीतियुक्त कार्य करती है तो राज्य के कार्य अच्छे ढंग से चलते रहते हैं।

इस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि नीतिवान राजा के प्रभाव से उसे परामर्श देने वाले मंत्री, राज्य कर्मचारी तथा टैक्स आदि देकर अपने कर्तव्य को पूरा करनेवाली प्रजा के प्रमुख व्यक्ति नीतियुक्त रहकर कार्य-कौशल से संपन्न हो जाते हैं अर्थात् जब राज्य कर्मचारी और प्रजा के लोग राष्ट्र के संबंध में अपने कर्तव्य को भली प्रकार समझते हैं तो राज्य-शासन चलाने में कोई कठिनाई नहीं होती। यदि प्रजा और अधिकारियों को अपने कर्तव्य का बोध है तो राजकार्य सुव्यवस्थित ढंग से चल सकता है। । 14 ।

॥ प्रकृति कोपः सर्वकोपेभ्यो गरीयान् ॥

राज्य के विरुद्ध प्रकृति का क्रोध सब क्रोधों से भयंकर होता है।

एक राजा से दूसरा राजा क्रोधित हो जाए, तो उससे निपटा जा सकता है। कोई राज्य कर्मचारी या मंत्री रुष्ट हो जाय तो उसे समझा-बुझाकर अपने पक्ष में किया जा सकता है। प्रजा रुष्ट हो जाए तो उसे अत्यधिक सुख-सुविधा प्रदान कर प्रसन्न किया जा सकता है, परंतु यदि प्रकृति कुपित हो जाय—कहीं भूकंप, कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि, कहीं चक्रवात और उपल वृष्टि—तो राजा के लिए यह अनिवारणीय हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि प्रकृति का कोप सभी कोपों से बढ़कर होता है। । 15 ।

॥ अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभः श्रेयान् ॥

अविनीत स्वामी के प्राप्त होने की अपेक्षा, स्वामी का न होना श्रेयस्कर है। इसका

भाव यह है कि अयोग्य व्यक्ति को राजा बनाने की अपेक्षा राजा न बनाना ही राज्य के लिए कल्याण की बात हो सकती है।

किसी राष्ट्र की बागडोर अयोग्य शासक के हाथ में होने से राष्ट्र की हानि होना निश्चित है। अयोग्य राजा के हाथ में अधिकार देने से अच्छा यह है कि वहां पंचायती राज्य स्थापित किया जाय। अयोग्य राजा से प्रजा का कल्याण नहीं हो सकता। इस सूत्र का वास्तविक भावार्थ यह है कि राष्ट्र के लिए यह आवश्यक नहीं है कि किसी को अनिवार्य रूप से राजा बनाया ही जाए। इस प्रकार चाणक्य गणतंत्र का समर्थन करते हैं। । 16 ।

॥ सम्पाद्यात्मानमन्विच्छेत् सहायवान् ॥

राजा को राज्योचित गुणों से संपन्न होना चाहिए तथा अपने जैसे ही गुणी सहायक रखकर राज्य का कार्यभार संभालना चाहिए।

राजा का कर्तव्य है कि स्वयं अपने आप को योग्य बनाने के बाद अपने विचारों से मेल खाने वाले गुणवान व्यक्तियों को ही अपना सहायक बनाए। तभी वह भली प्रकार राज्यभार को संभालने में समर्थ हो सकता है। उसे अपनी शक्तियों व कर्तव्यों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उसकी इंद्रियां वश में होनी चाहिए। उसके विचार नीतिपूर्ण, सत्य से युक्त होने आवश्यक हैं। शासक का कर्तव्य यह है कि वह शासकोचित गुणों से संपन्न हो, उसमें गंभीरता होना आवश्यक है, तभी वह अपने सहायकों से उचित कार्य लेने में समर्थ हो सकता है। जब राजा को स्वयं ही राज से संबंधित नीतियों और कार्यों का ज्ञान नहीं होगा तो उसके सहयोगी उसको सन्मार्ग से विमुख कर सकते हैं। । 17 ।

॥ नासहायस्य मन्त्रनिश्चयः ॥

गुणी सहायकों से हीन राजा के विचार अनिश्चित होते हैं। मंत्रिपरिषद् की बौद्धिक सहायता से हीन अकेला राजा अपने सीमित अनुभवों के बल से राज जैसे जटिल कर्तव्यों के विषय में उचित निर्णय नहीं कर सकता।

मंत्रिपरिषद् की उचित सलाह के बिना अकेला राजा राजकार्य को ठीक से नहीं निभा सकता क्योंकि अधिकांश व्यक्तियों का अनुभव और उनकी शक्तियां सीमित होती हैं, जबकि राज्य से संबंधित विचारों और निर्णयों का दूरगामी परिणाम होता है। इसलिए राजा का कर्तव्य है कि जब भी कोई निश्चय करे अथवा किसी नीति का निर्धारण करे, उसे अपने बुद्धिमान सहायकों से परामर्श अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार यह प्रकट है कि राज्य-शासन चलाने के लिए बुद्धिमान मंत्रियों की आवश्यकता रहती है। । 18 ।

॥ नैकं चक्रं परिभ्रमयति ॥

जैसे रथ को एक अकेला पहिया नहीं चला सकता उसी प्रकार राज्य को एक व्यक्ति चलाने में असमर्थ होता है। राजा के अतिरिक्त मंत्रिपरिषद् रथ के दूसरे पहिये के समान काम करती है।

यदि अकेला राजा बुद्धिमान मंत्रियों की सहायता के बिना कार्य करता है, तो वह एकतंत्र और तानाशाह राज्य कहलाता है। इससे राज्य की हानि होती है। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहां एक तानाशाह ने जो भी कार्य किए अन्ततः उनका परिणाम राष्ट्र के लिए हानिकारक हुआ। जिस प्रकार एक अकेले चक्र से गाड़ी नहीं चल सकती, उसी प्रकार कोई राजा भी सहयोगी मंत्रिपरिषद् के बिना भली-प्रकार कार्य-भार नहीं चला सकता।

| 19 |

॥ सहायः समदुःखसुखः ॥

सुख-दुःख आदि दोनों स्थितियों में जो मंत्री राजा से पूर्ण मेल रखकर उसकी सहायता करता है, उसे ही वास्तविक सहायक कहते हैं।

सुख और दुःख जीवन की दो परिस्थितियां हैं। दोनों स्थितियों में जो एक-सा विचार रखता हुआ सहायता करता है, उस व्यक्ति को ही वास्तविक सहायक माना जाता है। सामान्य रूप से प्रायः देखने में यह आता है कि सुख में तो बहुत से साथी हो जाते हैं परंतु दुःख में साथ देने वाले बहुत कम व्यक्ति होते हैं। तब उसके सगे-संबंधी और यहां तक कि पत्नी भी उसका साथ छोड़ देती है। किंतु जो सुख-दुःख में समान भाव रखते हैं, व्यक्ति को उन्हें ही अपना सच्चा सहायक और हितैषी मानना चाहिए। | 20 |

॥ मानी प्रतिमानिनमात्मनि द्वितीयं मन्त्रमुत्पादयेत् ॥

प्रबंध संबंधी समस्याओं के उत्पन्न होने पर स्वाभिमानी राजा का कर्तव्य है कि वह समस्याओं के प्रतिकूल विचार अपने मन में उत्पन्न करे, फिर दोनों स्थितियों को अपने सम्मुख रखकर विचार करे।

प्रत्येक समस्या के दो पहलू होते हैं। समाधान के रूप में दूसरा विकल्प हो सकता है और उस समाधान को नकारने वाला तर्क भी संभव है। समस्या उत्पन्न होने पर राजा को उन दोनों पहलुओं पर विचार करना चाहिए। उसके बाद ही कोई निर्णय लेना चाहिए अर्थात् उसे इस बात का भली प्रकार चिंतन-मनन करना चाहिए कि वह उन समस्याओं का जो समाधान सोच रहा है, उसका परिणाम क्या होगा। जो राजा अथवा राज्य-संस्था इस प्रकार किसी समस्या के दोनों पहलुओं पर विचार करती है वही उचित निर्णय ले सकती है। उचित निर्णय का अर्थ यह है कि राजा अथवा राज्य के अधिकारियों को अपने निर्णय के संबंध में किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए। संशयात्मन विनश्यति—संशयमना लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है। | 21 |

॥ अविनीतं स्नेहमात्रेण न मन्त्रे कुर्वीत ॥

सत्य और विवेक से हीन व्यक्ति को केवल स्नेही होने के कारण ही अपना हित करनेवाला नहीं मानना चाहिए। उसे अपने से संबंध रखनेवाली समस्याओं पर विचार करने में भी सम्मिलित नहीं करना चाहिए।

जो व्यक्ति विवेकहीन है अर्थात् जिसे समय के उपयुक्त कार्य करने का कोई ज्ञान नहीं, ऐसे व्यक्ति से यदि आप स्नेह रखते हैं तो भी उसे अपने जीवन से संबंधित रहस्यों और महत्वपूर्ण लाभदायक बातों के संबंध में विचार-विमर्श में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। उसे यह अधिकार भी नहीं देना चाहिए कि वह आपसे संबंधित कार्यों की जांच-परख करे, उनकी आलोचना करे। । 22 ।

॥ श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्यात् ॥

तर्कशास्त्र, दण्डनीति तथा मंत्रणा करने की शक्ति आदि विधाओं के पारंगत तथा गुप्त रूप से ली गई परीक्षाओं में खरे उतरे व्यक्ति को ही मंत्री नियुक्त करना चाहिए।

राजा का कर्तव्य है कि मंत्री नियुक्त करने से पूर्व उसकी परीक्षा ले कि कहीं वह स्वार्थी और लोभी तो नहीं। स्वार्थी और लोभी व्यक्ति प्रायः ऐसे कार्य करते हैं, जिससे हानि होती है। । 23 ।

॥ मन्त्रमूलाः सर्वारम्भाः ॥

भविष्य में किए जाने वाले सभी कार्यों के लिए पहले से ही भली-प्रकार सोच-समझकर कार्यक्रम बनाने से ही कार्य सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र में मंत्र का अर्थ भली प्रकार सोच-समझकर बनाई गई कार्य-योजना है। यह एक सामान्य सूझबूझ की बात है कि कोई भी कार्य प्रारंभ करने से पूर्व उसके संबंध में भली-प्रकार सोचकर कार्यक्रम की योजना नहीं बनाई जाएगी तो उस कार्य के सिद्ध होने में संदेह हो सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि विशेषज्ञों के साथ कार्य से संबंधित सभी बातों पर विचार-विमर्श किया जाए। किसी भी कार्य को सिद्ध करने के लिए इस प्रकार का विचार आधारशिला का काम करता है। उसके सफल होने की संभावना बढ़ जाती है। । 24 ।

॥ मन्त्ररक्षणे कार्य सिद्धिर्भवति ॥

भविष्य के संबंध में बनाई गई कार्य-योजना को गुप्त रखने से ही कार्य सिद्ध हो पाता है।

भविष्य की किसी भी योजना को गुप्त रखना चाहिए। इसका यह लाभ होता है कि उस योजना से संबंधित शत्रु उस कार्य में बाधा उत्पन्न नहीं कर पाते। अचानक व्यक्ति अपना

कार्य संपन्न कर लेता है और शत्रु मुंह ताकते रह जाते हैं। । 25 ।

॥ मन्त्रविस्रावी कार्यं नाशयति ॥

जो व्यक्ति किसी कार्य के संबंध में बनाई गई योजना को गुप्त नहीं रख सकते, उनके कार्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

किसी कार्य के लिए बनाई गई योजना असावधानी बरतने से ऐसे लोगों पर प्रकट हो जाती है जो उसके विरोधी होते हैं। कई बार ऐसा होता है जब योजना बनाई जाती है तो उस समय वहां कोई ऐसे अवांछित व्यक्ति हो सकते हैं, जो उसका भेद शत्रु पर प्रकट कर दें। इसलिए यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सब कार्यों की सफलता के लिए मंत्रणा गुप्त होनी चाहिए और उसे तब तक गुप्त रखा जाना चाहिए जब तक कार्य पूर्णतया सफल न हो जाए। । 26 ।

॥ प्रमादाद् द्विषतां वशमुपयास्यति ॥

यदि राजा अथवा राज्य के कर्मचारी अपनी मंत्रणा को गुप्त रखने में थोड़ा-सा भी आलस अथवा लापरवाही बरतते हैं तो योजना की गोपनीयता सुरक्षित न रह पाएगी और उसका भेद शत्रु के पास चला जाएगा, जिससे राज्य की हानि होगी और शत्रु को लाभ होगा। । 27 ।

॥ सर्वद्वारेभ्यो मन्त्रो रक्षितव्यः ॥

अपनी योजना के भेद प्रकट होने के सभी मार्गों को रोककर उसकी रक्षा करनी चाहिए अर्थात् इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए कि अपनी योजना किसी भी प्रकार प्रकट न होने पाए।

मंत्र अथवा गुप्त रहस्यों को प्रकट होने से बचाने के लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे सभी द्वारों को बंद कर देना चाहिए, जिनसे रहस्य के फूटने की संभावना हो अर्थात् चुगलखोर, जिसके पेट में बात न पचती हो ऐसे व्यक्ति के सामने मंत्रणा नहीं करनी चाहिए। । 28 ।

॥ मन्त्र सम्पदा हि राज्यं वर्धते ॥

मंत्र का रहस्य गुप्त रखने से ही राज्य के धन, धान्य की वृद्धि होती है।

राज्य के कार्यों से संबंधित सभी मंत्रणाओं और योजनाओं को सुरक्षित रखने के कारण ही राष्ट्र समृद्ध हो सकता है। इसलिए आवश्यक है कि अपनी योजना को गुप्त रखने में पूर्ण सतर्कता बरती जाए। । 29 ।

॥ श्रेष्ठतमां मन्त्रगुप्तिमाहुः ॥

मन्त्र को गुप्त रखने की नीति सर्वश्रेष्ठ नीति है।

राजधर्म के आचार्य बृहस्पति, विशालाक्ष, बाहुदंतीपुत्र, पिशुन प्रभृति विद्वान् लोग, मन्त्र गुप्त रखने की नीति को अन्य सब नीतियों का सिरमौर बता गए हैं। । 30 ।

॥ कार्यान्धस्य प्रदीपो मन्त्रः ॥

मन्त्र अंधकार में मार्ग दिखाने वाले दीपक के समान है। यह अपने कार्य के संबंध में अनिश्चित नीति वाले व्यक्ति को उसका कर्तव्य-मार्ग दिखाने में सहायक होता है।

जैसे घर का मालिक प्रकाश के बिना अपने ही घर में अंधे व्यक्ति के समान व्यवहार करता है, उसी प्रकार मनुष्य सुविचारित मन्त्र के बिना अपना कर्तव्य-पालन करने में अंधा बना रहता है। । 31 ।

॥ मन्त्रचक्षुषा परछिद्राण्यवलोकयन्ति ॥

जिन राजाओं को अपनी विजय की आशा रहती है, वे अपने परामर्शदाता मंत्रियों की आंख से अथवा उनकी दृष्टि से अपने विरोधियों की कमजोरियों को जान लेते हैं।

जो राजा सदैव सतर्क रहता है वही जीत की आशा कर सकता है। वह अपने मंत्रियों अथवा अन्य परामर्शदाताओं की सहायता से अपने विरोधी राष्ट्रों की कमजोरियों का पता लगा लेता है। दूसरे राष्ट्र की कमजोरियों अथवा दुर्बलताओं का ज्ञान होने पर राजा लाभ उठा सकता है और अपने राज्य को सुदृढ़ बना सकता है। । 32 ।

॥ मन्त्रकाले न मत्सरः कर्तव्यः ॥

मन्त्र ग्रहण करते समय मन्त्रदाता के छोटे अथवा बड़ेपन पर ध्यान न देकर उसके अभ्रांतपन पर ईर्ष्या न करके श्रद्धा के साथ मन्त्र ग्रहण करना चाहिए।

इसका भाव यह है कि जिस समय किसी योजना के संबंध में विचार किया जा रहा हो, उस समय किसी को छोटा अथवा निर्बल समझकर उसकी बात को महत्वहीन नहीं समझना चाहिए। मन्त्रणा में भाग लेने वाले सभी सदस्यों का कर्तव्य है कि वे निष्पक्ष भाव से सबके विचार सुनें। । 33 ।

॥ त्रयाणामेकवाक्ये सम्प्रत्ययः ॥

किसी विचारणीय कर्तव्य के विषय में जब कोई विचार किया जा रहा हो तो उसमें भाग लेने वाले विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का एकमत होना श्रेष्ठ माना जाता है। एकमत होने

के कारण कार्यसिद्धि सुनिश्चित हो जाती है। । 34 ।

॥ कार्याकार्यतत्त्वार्थदर्शिनो मन्त्रिणाः ॥

कार्य, अकार्य की वास्तविकता को ठीक-ठीक समझनेवाले, अपने वेतन से अधिक न चाहने वाले तथा मंत्र के रहस्य को समझनेवाले मंत्री होने चाहिए।

इस सूत्र में आचार्य चाणक्य ने इस बात की ओर संकेत किया है कि राजा के मंत्री किस प्रकार के हों। राजा को चाहिए कि वे ऐसे मंत्री नियुक्त करें जिन्हें इस बात का ज्ञान हो कि कौन-सा कार्य करने योग्य है और कौन-सा न करने योग्य अर्थात् ऐसे व्यक्ति को मंत्री बनाना चाहिए जो वास्तविकताओं को ठीक से समझनेवाला हो। इसके अतिरिक्त उसमें किसी प्रकार का लोभ और लालच न हो अर्थात् उसे जिस वेतन पर नियुक्त किया गया है, उसके मन में उससे अधिक पाने की इच्छा न हो। । 35 ।

॥ षट्कर्णाद् भिद्यते मन्त्रः ॥

चाणक्य ने इस सूत्र में भी अपने रहस्यों को गुप्त रखने की बात कही है। उनका कहना है कि कोई विचारित बात छह कानों में पहुंचने से रहस्य नहीं रह पाती।

मंत्र राजा तथा मुख्यमंत्री के अतिरिक्त किसी भी तीसरे व्यक्ति के कानों तक पहुंचने से ही असार हो जाता है। यही इस सूत्र का भाव है। इसके अनुसार जब मंत्रणा को अंतिम रूप देना हो तो उस समय केवल दो उत्तरदायी मनुष्य ही उसे निश्चित अंतिम रूप दें। । 36 ।

॥ आपत्सु स्नेहसंयुक्तं मित्रम् ॥

विपत्ति के दिनों में जब सारा संसार विपत्ति में फंसे हुए व्यक्ति को अकेला छोड़ देता है तो उस समय सहानुभूति रखनेवाला व्यक्ति ही मित्र कहलाता है। । 37 ।

॥ मित्रसंग्रहणे बलं सम्पद्यते ॥

सच्चा मित्र मिल जाने अथवा उनका संग्रह करने से मनुष्य को बल प्राप्त होता है अर्थात् मनुष्य सच्चे मित्रों के कारण अपने को बलवान अनुभव करता है।

मनुष्य को सच्चा मित्र मिलने से जो बल प्राप्त होता है, उसे सात विभिन्न रूपों में देखा जाता है। यह बल उसे अपने स्वामी, मंत्री, देश, दुर्ग, खजाना, सेना और मित्र आदि के रूप में प्राप्त होता है अर्थात् इनमें से कोई भी एक या एक से अधिक स्रोत उसके पक्ष में होते हैं तो व्यक्ति अपने आप को शक्ति-संपन्न मान सकता है।

इससे पहले सूत्र में भी यही बताया गया है कि आपत्ति में जो व्यक्ति स्नेह रखता है, उसे भी मित्र कहा जा सकता है और इस सूत्र का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के सच्चे मित्र

ही उसका वास्तविक बल होते हैं। । 38 ।

॥ बलवान लब्धलाभे प्रयतते ॥

अर्थात् सच्चे मित्रों से जो बल प्राप्त होता है, उससे राजा अप्राप्त राज्यैश्वर्य को पाने का प्रयत्न करता है अथवा कर सकता है।

इसी प्रकार सामान्य मनुष्य भी सच्चे मित्रों के प्राप्त होने से उन लाभों को प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकता है, जो उसे जीवन में प्राप्त नहीं हैं। इस प्रकार मित्रों के सच्चे बल से अपने आपको बलवान अनुभव करनेवाला व्यक्ति उस बल से अपने जीवन को विकसित कर सकता है, परंतु इसके लिए उसे उद्यम करने की आवश्यकता होती है। बल प्राप्त होने पर भी उसके उपयोग और उससे लाभ उठाने की क्षमता व्यक्ति में होनी चाहिए। । 39 ।

॥ अलब्धलाभो नालसस्य ॥

आलसी व्यक्ति अप्राप्त राज्यैश्वर्य प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् आलसी व्यक्ति अथवा आलसी राजा न तो अपने राज्य की सीमा को विकसित कर सकता है और न अपने राज्य को समृद्धिशाली बना सकता है।

वस्तुतः सत्य में निष्ठा न होना ही आलस्य है। जो व्यक्ति सत्यहीन है वह सदैव ऐसे कार्य करता है, जो करने के लायक नहीं होते हैं और उपयुक्त कार्यों को करने में आलस्य दिखाता है। आलस्य उसे भी कह सकते हैं जिससे किसी प्रकार का लाभ नहीं होता।

आलस्य मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। 'आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महानरिपुः', अर्थात् आलस्य ही मनुष्य के शरीर में रहनेवाला उसका सबसे बड़ा शत्रु है। । 40 ।

॥ अलसस्य लब्धमपि रक्षितुं न शक्यते ॥

सत्यहीन आलसी व्यक्ति, जो कुछ प्राप्त है उसकी रक्षा करने में भी असमर्थ होता है अर्थात् आलसी राजा अपने कर्तव्यों से विमुख होने के कारण प्राप्त राज्यैश्वर्य को भी सुरक्षित रखने में समर्थ नहीं होता।

सामान्य संसार में भी यह देखने में आता है कि आलसी व्यक्ति अपने धन-ऐश्वर्य, संपत्ति अथवा सुख का विस्तार नहीं कर सकता। इसके विपरीत उसे इस संसार में जो कुछ प्राप्त है, आलस्य के कारण वह उससे भी हाथ धो बैठता है। । 41 ।

॥ न चालसस्य रक्षितं विवर्धते ॥

आलसी, सत्यहीन, प्रयत्नहीन व्यक्ति का दैववश संचित राज्यैश्वर्य कुछ काल तक

सुरक्षित दिखने पर भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होता।

राजा के ऐश्वर्य में वृद्धि न होना, वास्तव में उसका विनाश है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि मनुष्य के शरीर में रहनेवाला आलस्य ही उसका सबसे बड़ा शत्रु होता है। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह आलस्य रूपी दोष को सदैव दूर करने का प्रयत्न करे।

। 42 ।

॥ न भृत्यान् प्रेषयति ॥

आलसी, सत्यहीन, अकर्मण्य, भोगविलास में फंसा हुआ राजा अथवा राज्य अधिकारी, राज्य के कर्मचारियों को उनके उचित काम पर लगाने अथवा उनसे अधिक काम करवाने में आलस्य से काम लेता है।

जो लोग आलसी हैं, वे अपने अधीन रहने वाले योग्य कर्मचारियों से भी सही प्रकार से काम लेने में असमर्थ रहते हैं। आलस को न त्यागना, नौकर-चाकरों तथा अन्य अधिकारियों से उनकी योग्यता के अनुसार कार्य न लेना राजा का एक प्रकार से अपराध है। इससे राज्य-व्यवस्था में गड़बड़ पड़ जाती है। । 43 ।

॥ अलब्धलाभादि चतुष्टयं राज्यतन्त्रम् ॥

अलब्ध का लाभ, लब्ध की रक्षा, रक्षित का वर्धन तथा राजकर्मचारियों की उचित नियुक्ति द्वारा कार्यों में विनियोग या व्यय ये राज्य-व्यवस्था के चार आधार हैं। ये चारों बातें मिलकर राजतंत्र कहलाती हैं।

अर्थात् राज्य-तंत्र के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र को जो कुछ प्राप्त नहीं है, उसे उपलब्ध करवाने का प्रयत्न किया जाये, उसे जो कुछ प्राप्त है उसकी रक्षा की जाए और उसकी वृद्धि की जाए, यह राजतंत्र के प्रमुख कार्य हैं। । 44 ।

॥ राज्यतन्त्रायत्तं नीतिशास्त्रम् ॥

समाज में प्रचलित व्यवहार में आने वाली बातों को ही नीतिशास्त्र कहते हैं। राज्य-व्यवस्था नीतिशास्त्र के अनुसार ही होती है।

यदि राज्य-व्यवस्था एक विशिष्ट नीति से संपन्न हो तो समाज में एक विशेष प्रकार की नीति जन्म लेती है और इसी प्रकार के समाज में उसे फलने-फूलने का अवसर मिलता है। । 45 ।

॥ राज्यतन्त्रेष्वायत्तौ तन्त्रावापौ ॥

अपने राष्ट्र से संबंधित तथा दूसरे राष्ट्र से संबंध रखने वाले कर्तव्य अपनी राष्ट्र-

व्यवस्था के आवश्यक अंग होते हैं।

प्रत्येक राष्ट्र की अन्य राष्ट्रों के संबंध में एक विशेष नीति होती है। प्रत्येक सरकार में एक विदेश मंत्रालय भी होता है, जिसका काम अपने पड़ोसी राज्यों अथवा सुदूर राज्यों के प्रति नीति-निर्धारण करना होता है। इस नीति का विशेष लाभ यह होता है कि इससे राष्ट्र सुदृढ़ होता है। विदेश नीति इस प्रकार की होनी चाहिए, जिससे राष्ट्र का अहित न हो। उसकी सुरक्षा में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। यह विभाग किसी भी देश के कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। । 46 ।

॥ तन्त्रं स्वविषयकृत्येष्वायत्तम् ॥

स्वराष्ट्र-व्यवस्था तंत्र कहलाती है और वह केवल स्वराष्ट्र संबंधी कर्तव्यों से संबद्ध रहती है।

अपने राष्ट्र के संबंध में अपने कर्तव्य पूरे करने से ही राज्य में व्यवस्था कायम रहती है। राज्य में अव्यवस्था होने का कारण यही है कि राज्य के अधिकारी अपने देश से संबंधित कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं। वे अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते। इससे राज्य में अव्यवस्था फैलती है और राज्य को हानि पहुंचती है। । 47 ।

॥ आवापो मण्डलनिविष्टः ॥

आवाप अर्थात् दूसरे राष्ट्र से संबंधित कर्तव्य मण्डल अर्थात् पड़ोसी राष्ट्र से संबंध रखता है।

जो राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर विशेष नजर रखता है, उनकी गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करता है, वही सफलतापूर्वक अपने राज्य को स्थिर रख सकता है। जो पड़ोसी राज्यों की गतिविधियों पर दृष्टि नहीं रखता उसे हानि उठानी पड़ती है। । 48 ।

॥ सन्धिविग्रहयोनिर्मण्डतः ॥

पड़ोसी राज्यों से अनेक प्रकार की संधियां तथा उसके विरुद्ध कार्य-व्यवस्था राष्ट्र नीति का महत्त्वपूर्ण अंग है।

संधि का अर्थ है किसी पड़ोसी देश से ऐसे समझौते करना, जो देश के हित में हो। विग्रह का अर्थ है, पड़ोसी राज्य के संबंध में विरोधी कारणों को अपनाना। जहां संधियों द्वारा दोनों देशों को लाभ होता है, वहां कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनका संबंध आपसी विरोध से भी होता है। अर्थात् प्रत्येक राष्ट्र को पड़ोसी देशों के व्यवहार के अनुरूप संधि और विग्रह करते रहना चाहिए। इससे देश में राज्य-व्यवस्था स्थिर रहती है। । 49 ।

॥ नीतिशास्त्रानुगो राजा ॥

राजा को नीतिशास्त्र के अनुसार चलना चाहिए।

राजा को दण्डनीति, तर्कशास्त्र तथा अर्थशास्त्र आदि की बातों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इन बातों का शासन-व्यवस्था से संबंध है, इसलिए राजा अथवा राज्य के अधिकारियों को इन शास्त्रों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यदि राजा अथवा राज्य के अधिकारी, इन बातों से अपरिचित हैं तो उन पर किसी प्रकार का सामाजिक नियंत्रण नहीं रह पाएगा। इस प्रकार वे स्वेच्छाचार से पूर्ण कार्य करने लगेंगे। इससे राष्ट्र की भारी हानि होने की संभावना रहती है और राज्य में विद्रोह उठ खड़े होते हैं। इसलिए राजा का कर्तव्य है कि वह नीतिशास्त्र के नियमों के अनुसार ही प्रजा का पालन करे। । 50 ।

॥ अनन्तरप्रकृतिः शत्रुः ॥

इस सूत्र का भावार्थ यह है कि किसी राष्ट्र के निकटवर्ती राज्य अथवा वहां के लोग भी शत्रु बन जाते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि जहां सीमा पर संघर्ष अथवा लड़ाई-झगड़े होने की संभावना बनी रहती है, वे देश आपस में शत्रु बन जाते हैं। ऐसा प्राचीनकाल से राज्यों के इतिहास पर दृष्टि डालने से भी पता चलता है। आज के वातावरण में भी अनेक देशों में सीमाओं को लेकर झगड़े होते रहते हैं। इसलिए राजा, राज्य-अधिकारी और सीमाओं की सुरक्षा करनेवाली सेनाओं का कर्तव्य है कि वे अपने पड़ोसी राज्यों से सतर्क रहें, पड़ोसी राज्य की गतिविधियों को देखते रहें। । 51 ।

॥ एकान्तरितं मित्रमिष्यते ॥

शत्रु राष्ट्र के पड़ोसी जिसकी सीमाएं शत्रु राष्ट्र से मिल रही हों उसकी भी हमारे शत्रु राष्ट्र से शत्रुता रहनी स्वाभाविक है, अतः वह उस शत्रु के विरुद्ध हमारा मित्र बन जाता है।

अनेक राज्य आपस में एक-दूसरे से शत्रुता रखते हैं, इसलिए राजा को चाहिए कि वह अपने पड़ोसी शत्रु राष्ट्र से शत्रुता रखने वाले राष्ट्रों को अपना मित्र बना ले। कूटनीति का यह एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस नीति से लाभ उठाना राजा का कर्तव्य है। । 52 ।

॥ हेतुतः शत्रु मित्रे भविष्यतः ॥

शत्रु और मित्र बिना कारण के नहीं होते। शत्रुता और मित्रता किसी कारणवश हुआ करती है।

यदि इस नीति सूत्र को आधुनिक संदर्भ में देखा जाए तो यह बात बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाती है। जब अमरीका और रूस में शीत युद्ध चल रहा था तो अमरीका भारत का

विरोधी था। उस समय रूस ने भारत की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। यह एक सामान्य-सा नियम है कि कोई भी राष्ट्र अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए अन्य राष्ट्रों का सहयोग मांगता है। । 53 ।

॥ हीयमानः सन्धिं कुर्वीत ॥

निर्बल राजा को अपने से शक्तिशाली राज्य से संधि कर लेनी चाहिए।

नीति जाननेवाला निर्बल राजा अपने पड़ोसी सशक्त और अन्यायी राजा के साथ संधि करने से ही अपने राज्य की रक्षा कर सकता है। उसे नीतिपूर्वक संधि करके अपने देश पर आए संकट अथवा युद्ध की स्थिति को टाल देना चाहिए। जो राजा ऐसा नहीं करता, उसे भयंकर हानि उठानी पड़ती है। संधि करने के पश्चात् परोक्ष रूप से कमजोर राजा को अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। । 54 ।

॥ तेजो हि सन्धानहेतुस्तदर्थानाम् ॥

सामान्य रूप से संधि करनेवाले दोनों देशों में वास्तविक और लाभदायक संधि तभी हो सकती है, जब दोनों राष्ट्र तेजस्वी और प्रभावशाली ढंग से आचरण करनेवाले हों।

अर्थात् दो राष्ट्रों में संधि का वास्तविक लाभ तभी हो सकता है, जब दोनों राष्ट्र अपने स्वाभिमान को स्थिर रख सकें और प्रभावशाली ढंग से अपने राष्ट्र का पक्ष उपस्थित कर सकें। ऐसी संधि से दोनों राष्ट्रों को लाभ हो सकेगा। । 55 ।

॥ नातप्तलोहो लोहेन सन्धीयते ॥

जिस प्रकार गर्म लोहा ही गर्म लोहे से मिल सकता है, उसी प्रकार यदि संधि करनेवाले दोनों राजा तेजस्वी होंगे तभी संधि सफल हो पाएगी।

जिस प्रकार गर्म लोहे पर चोट मारने से ही उसे अनुकूल रूप में ढाला जा सकता है, इसी प्रकार यदि संधि करनेवाले दोनों राष्ट्र तेजस्वी नहीं होंगे तो संधि सफल नहीं हो सकेगी। । 56 ।

॥ बलवान् हीनेन विग्रह्वीयात् ॥

बलवान् राजा को चाहिए कि वह शत्रु को कमजोर देखकर ही उससे युद्ध करने की ठाने।

यदि कोई बलवान् राजा किसी पर आक्रमण करना चाहता है तो उसे दूसरे राष्ट्र की शक्ति का पूर्वानुमान लगा लेना चाहिए। यदि दूसरा राष्ट्र उससे शक्ति में उन्नीस हो तभी उससे युद्ध की ठाननी चाहिए, अन्यथा नहीं। । 57 ।

॥ न ज्यायसा समेन वा ॥

अपने से अधिक समृद्ध तथा अपने समान बल वाले राष्ट्र से शत्रुता नहीं बांधनी चाहिए। । 58 ।

॥ गजपादविग्रहमिव बलवद्विग्रहः ॥

अपने से बलवान् राजा से युद्ध करना बिल्कुल वैसा ही है जैसे हाथियों के झुंड द्वारा पैदल सेना को कुचलवा देना।

इसका भाव यह है कि जो राजा जानबूझकर अथवा अज्ञानवश किसी बलवान् राजा पर आक्रमण करता है तो उससे आक्रमण करनेवाले राजा का ही विनाश होता है। यह बिल्कुल इसी प्रकार का कार्य है जैसे विशाल पत्थर की शिला से अपना माथा टकराना। । 59 ।

॥ आमपात्रमामेन सह विनश्यति ॥

जिस प्रकार दो कच्चे पात्र यदि आपस में टकराते हैं तो दोनों ही टूट जाते हैं, इसी प्रकार समान शक्ति वाले राजाओं में युद्ध दोनों के विनाश का कारण होता है। । 60 ।

॥ अरिप्रयत्नमभिसमीक्षेत् ॥

राजा को चाहिए कि वह अपने शत्रुओं के प्रयत्नों अथवा उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यों पर सावधानीपूर्वक नजर रखे।

प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह अपने शत्रु राष्ट्र पर हर समय सतर्कतापूर्वक नजर रखे। उसे इस बात का ज्ञान भी होना चाहिए कि शत्रु राष्ट्र किस बात का प्रयत्न कर रहा है। दूसरे राष्ट्रों से संधियों द्वारा उसे किस प्रकार का लाभ होने की संभावना है। राजा को चाहिए कि वह यह सब बातें अपने गुप्तचरों द्वारा जाने और अपनी तथा अपने राज्य की रक्षा की पूरी सावधानी बरते। । 61 ।

॥ सन्धायैकतो वा ॥

अपनी विजय चाहनेवाले राजा को चाहिए कि वह अपने पड़ोसी राज्य से संधि अथवा युद्ध आदि प्रत्येक अवस्था में शत्रु के प्रयत्नों पर पूरी तरह दृष्टि रखे। । 62 ।

॥ अरिविरोधादात्मरक्षामावसेत् ॥

राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र को बाहर और भीतर के विरोधों से बचाता

रहे।

शत्रु राष्ट्र पड़ोसी राष्ट्र को कमजोर करने के लिए अनेक उपाय अपनाते हैं। वे आतंकवादियों द्वारा राष्ट्र में भय फैलाने का प्रयत्न करते हैं। अनेक बार वे सांप्रदायिक दंगे करवाने का प्रयत्न करते हैं, अनेक स्थानों पर बम-विस्फोट तथा लूटमार करके भी राष्ट्र को अस्थिर करने का प्रयत्न करते हैं। उस राष्ट्र में कुछ ऐसे विरोधी तत्त्व पैदा हो जाते हैं जो स्वार्थवश राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर ले जाने के प्रयत्नों का विरोध करते हैं। इसीलिए राष्ट्र के शासकों का कर्त्तव्य है कि वे बाहरी और आभ्यांतरिक खतरों से राष्ट्र की रक्षा करने का प्रयत्न करे। । 63 ।

॥ शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत् ॥

निर्बल तथा शक्तिहीन राजा का कर्त्तव्य है कि वह किसी बलवान् परंतु धार्मिक राजा को अपना मित्र बना ले और उसकी सहायता से अपने राज्य को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करे।

निर्बल राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि वह किसी बलवान् राष्ट्र को संधि आदि उपायों से अपना मित्र बना ले, जिससे वह अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सके। जिस प्रकार कमजोर मनुष्य को देखकर दुष्ट व्यक्ति उसे कष्ट देने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार शक्तिशाली पड़ोसी राज्य शक्ति का भय दिखाकर निर्बल राष्ट्र को डराते-धमकाते रहते हैं। इसलिए कूटनीति का सहारा लेते हुए अपने राष्ट्र को स्थिर और सुरक्षित रखने के लिए किसी शक्तिशाली राष्ट्र का आश्रय लेना उचित है। परंतु उसे इस बात का विश्वास होना चाहिए कि जिस राष्ट्र का सहारा लिया जा रहा है वह किसी प्रकार का अनीतिपूर्ण कार्य नहीं करेगा। यह तभी संभव होता है जब दोनों राष्ट्र एक-दूसरे के स्वार्थ की पूर्ति करते हुए एक-दूसरे को लाभ पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं। । 64 ।

॥ दुर्बलाश्रयो दुःखमावहति ॥

दुर्बल का आश्रय लेने से दुःख उठाना पड़ता है।

यदि किसी राष्ट्र को अपनी शक्ति पर विश्वास न हो तो उसे अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए किसी शक्तिशाली राष्ट्र का ही आश्रय लेना चाहिए। निर्बल और कमजोर राष्ट्र का आश्रय लेने से लाभ नहीं होगा। क्योंकि दुर्बल राष्ट्र से समय आने पर किसी प्रकार के कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दुर्बल राष्ट्र का सहारा लेने से आश्रय लेने वाले राष्ट्र को दुःख उठाने पड़ते हैं। । 65 ।

॥ अग्निवद्राजानमाश्रयेत् ॥

किसी राजा से संबंध तोड़ लेने के बाद उससे उसी प्रकार सावधान रहना चाहिए जैसे

व्यक्ति अग्नि से सावधान रहता है। । 66 ।

॥ राज्ञः प्रतिकूलं नाचरेत् ॥

राजा के प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए। राजा से द्रोह का अर्थ है राष्ट्र का द्रोह।

राष्ट्र से द्रोह करना, एक भयंकर पाप माना जाता है। उसकी सजा मृत्युदण्ड है। इसलिए राष्ट्र अथवा जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि अथवा राज्य-व्यवस्था से विद्रोह करना राष्ट्र-द्रोह की श्रेणी में आता है। । 67 ।

॥ उद्धतवेषधरो न भवेत् ॥

मनुष्य को ऐसा वेष धारण नहीं करना चाहिए जिससे वेषधारण करनेवाले की उददंडता प्रकट हो।

मनुष्य जिस समाज में रहता है उसे चाहिए कि वहां के सामाजिक नियमों के अनुरूप ही वस्त्र धारण करे। उसे ऐसे वस्त्र धारण नहीं करने चाहिए, जिसे देखकर मन में तिरस्कार अथवा घृणा की भावना पैदा हो। व्यक्ति का वेष, समाज की रुचि के अनुरूप होना चाहिए। । 68 ।

॥ न देवचरितं चरेत् ॥

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उस प्रकार के काम न करे जो राजा के योग्य होते हैं। अर्थात् मनुष्य को राजा के चरित्र का अनुकरण नहीं करना चाहिए।

इसका भावार्थ यह है कि मनुष्य को धन के अभिमान में आकर राजा के समान मुकुट और छत्र आदि धारण नहीं करने चाहिए और उसे उन चिह्नों का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए जिनका प्रयोग केवल राजा के लिए ही निश्चित होता है। सामान्य मनुष्यों को ऐसा करना उचित नहीं। भाव यह है कि जन-सामान्य को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे उसे राजा का प्रतिद्वंद्वी माना जाए। । 69 ।

॥ द्वयोरपीर्ष्यतोः द्वैधीभावं कुर्वीत ॥

राज्यैश्वर्य से ईर्ष्या करनेवाले दो व्यक्तियों में विरोध पैदा कर देना चाहिए।

राज्य का कर्त्तव्य है कि शासन-व्यवस्था का विरोध करनेवाले संगठनों के प्रति सतर्क रहे। उसका प्रयत्न होना चाहिए कि राज्यद्रोही व्यक्ति और विभिन्न दल संगठित न हो सकें। अर्थात् उनमें फूट डालकर उन्हें नष्ट कर देना चाहिए।

अनेक राष्ट्रों में राज्य का विरोध करनेवाले अनेक संगठन पैदा हो जाते हैं। शासन-व्यवस्था का कर्त्तव्य है कि वह राज्य का विरोध करनेवाले संगठनों को पूरी तरह संगठित न होने दे। उनके संबंध में सतर्कता बरतनी चाहिए। उन्हें किसी प्रकार का ऐसा अवसर नहीं देना चाहिए कि वे आपस में इकट्ठे होकर संयुक्त मोर्चा बना सकें। । 70 ।

॥ न व्यसनपरस्य कार्यावाप्तिः ॥

जो व्यक्ति व्यसन अथवा किसी प्रकार की बुरी लत में फंसा हुआ है वह किसी भी कार्य में सफल नहीं हो सकता अर्थात् उसका कोई भी कार्य सफल होना कठिन है।

जो व्यक्ति किसी प्रकार के व्यसन आदि में फंसा हुआ है उसका कार्य उसके लिए कभी भी फलदायक सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि उसके कार्यों में न तो कोई उत्साह होता है न दृढ़ता। किसी प्रकार के भी व्यसन में फंसा हुआ व्यक्ति आत्म-विश्वास से रहित होता है। आत्मविश्वास से हीन व्यक्ति के कार्यों में किसी प्रकार की तेजस्विता नहीं होती। उसका मन हर समय विषय भोगों में फंसे रहने के कारण कर्त्तव्य की ओर प्रेरित ही नहीं होता। । 71 ।

॥ इन्द्रियवशवर्ती चतुरंगवानपि विनश्यति ॥

चतुरंगिणी सेनाओं से युक्त होने पर भी यदि राजा अपनी इंद्रियों को वश में नहीं रख सकता तो वह नष्ट हो जाता है।

इस सूत्र का भाव यह है कि मनुष्य को अपनी इंद्रियां अपने वश में रखनी चाहिए। जिस मनुष्य की इंद्रियां अपने वश में नहीं होतीं, वह अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए ऐसे काम करता है जो उसके विनाश का कारण होते हैं। राजाओं के लिए यह और भी आवश्यक है क्योंकि उनके पास असीमित शक्तियां होती हैं। आचार्य चाणक्य का कहना है कि यदि राजा के पास असीमित शक्तियां हैं, उसके पास सभी प्रकार की सेनाएं हैं, सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र हैं तो भी उसे चाहिए कि वह अपनी इंद्रियों को वश में रखे। इंद्रियों को वश में न रखने से उसका समृद्ध राज्य भी नष्ट हो सकता है। । 72 ।

॥ नास्ति कार्यं द्यूतप्रवृत्तस्य ॥

जिन लोगों को जुआ खेलने की आदत होती है, वे अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन होते हैं, अर्थात् उन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता।

राजा की जुए के प्रति अत्यन्त आसक्ति राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। जुआ एक ऐसा व्यसन है जिसमें पराजित होता हुआ व्यक्ति भी अंत तक जीत की कामना करता रहता है। परंतु उसे वास्तविकता का तभी ज्ञान होता है जब वह सब कुछ खो बैठता है। इतिहास इसका उदाहरण है। युधिष्ठिर ने जुआ खेलने के लिए दुर्योधन के निमंत्रण को यह

कहकर स्वीकार कर लिया कि इस प्रकार के निमंत्रण को अस्वीकार करना राजाओं के लिए अच्छा नहीं। परंतु सभी जानते हैं कि उस निमंत्रण को स्वीकार करने का फल क्या हुआ। । 73 ।

मृगयापरस्य धर्मार्थं विनश्यतः

शिकार खेलना राजा का मनोरंजन हो सकता है परंतु जो उसके प्रति अत्यंत आसक्त हो, आवश्यकता से अधिक इस काम में रुचि लेता हो, चाणक्य के अनुसार वह अपने धर्म और अर्थ दोनों ही नष्ट कर लेता है। । 74 ।

॥ अर्थेषणा न व्यसनेषु गण्यते ॥

जीवनयापन की आवश्यकताओं हेतु धन संग्रह करने की इच्छा को व्यसनों में नहीं गिना जाता।

प्रत्येक व्यक्ति को धन-संग्रह करने की इच्छा रहती है। चाणक्य ने अनेक स्थलों पर निर्धन व्यक्ति के जीवन को निरर्थक बताया है। निर्धन व्यक्ति सभी जगह कष्ट उठाते हैं। उसके सगे-संबंधी भी कष्ट में उसका साथ छोड़ देते हैं। इसलिए धन उपार्जन के लिए निरंतर प्रयत्न करना बुरा व्यसन नहीं कहा जा सकता। । 75 ।

॥ न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम् ॥

अत्यधिक कामासक्त अथवा चरित्रहीन व्यक्ति किसी भी काम को ठीक से नहीं कर सकता।

किसी भी राष्ट्र के लिए आवश्यक है कि वहां के राज्य अधिकारी चरित्रवान हों, क्योंकि यदि वे स्वयं चरित्रवान नहीं होंगे तो प्रजा में भी पापाचार के प्रति आसक्ति बढ़ जाएगी और पापाचार बढ़ने से अपराधों में वृद्धि होगी। इसलिए जहां तक प्रयत्न हो, ऐसे कामों से बचा जाए जिनसे प्रजा में विषय भोग के प्रति रुचि बढ़े। । 76 ।

॥ अग्नि दाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम् ॥

कठोर वाणी आग से जलने से भी अधिक दुःखदायी होती है।

कहा जाता है कि तलवार का घाव भर जाता है परंतु कठोर वाणी का घाव दिल पर सदा के लिए अंकित रहता है। कठोर बातें बोलना एक प्रकार का व्यसन है। अविवेकी मनुष्य क्रोधित होता है तो उसकी वाणी भी कठोर हो जाती है। तब वह बिना सोचे-समझे ऐसी बातें कहने लगता है जो दूसरों के हृदय में सदा के लिए चुभती रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि कठोर वाणी भविष्य में होने वाले विवादों का बीज है। इसलिए संत-महात्माओं ने कहा है कि मनुष्यों को कटु वाणी से बचना चाहिए। मधुर वाणी से व्यक्ति अपने शत्रुओं को भी मित्र बना

सकता है। । 77 ।

॥ दण्डपारुष्यात् सर्वजनद्वेष्यो भवति ॥

व्यक्तिगत द्वेष मन में रखकर यदि कोई दंडदाता (न्यायाधीश) किसी को कठोर दंड देता है तो वह अपने पवित्र आसन से पतित होकर जनता का कोपभाजन बन जाता है।

दंड देने का अर्थ यह होता है कि व्यक्ति में सुधार हो, वह अपने बुरे कामों को छोड़े। परंतु यदि दंड देनेवाला व्यक्तिगत द्वेष के कारण अथवा क्रोध में आकर अपराध के मुकाबले अधिक कठोर दंड देता है तो जनता के मन में दंड देनेवाले के प्रति द्वेष-भावना पैदा हो जाती है। वस्तुतः न्यायाधीश का कर्तव्य है कि वह न्याय के पवित्र आसन पर बैठकर अपराधी के मन से अपराध-भावना नष्ट करने के लिए दंड दे, न कि व्यक्ति के प्रति द्वेष अथवा क्रोध में आकर कठोर दंड देने की व्यवस्था करे। ऐसा करने से लोगों की न्याय के प्रति आस्था कम हो जाएगी, जो जनहित में नहीं है। । 78 ।

॥ अर्थतोषिणं श्रीः परित्यजति ॥

जो राजा थोड़े-से धन से संतुष्ट हो जाता है, राज्य लक्ष्मी उसे त्याग देती है।

राजा को अपने राजकोष से कभी भी संतुष्ट नहीं होना चाहिए। यदि वह अपने अपर्याप्त साधनों से संतुष्ट होकर बैठ जाएगा तो राज्य निर्धन और श्रीहीन होकर नष्ट हो जाएगा। । 79 ।

॥ अमित्रो दण्डनीत्यामायत्तः ॥

तुम्हारा शत्रु तुम्हें कितनी हानि पहुंचा सकता है, इसका प्रभाव तुम्हारी दंडनीति पर आधारित है।

यदि शत्रु के प्रति तुम्हारी दंडनीति निर्बल होगी और तुम्हारी तरफ से किसी प्रकार की सतर्कता नहीं बरती जाएगी तो शत्रु का दमन करना तुम्हारे लिए कठिन हो जाएगा। इसलिए प्रत्येक राजा का कर्तव्य है कि वह ऐसी दंडनीति अपनाए जिससे उसके शत्रु राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार का अपराध करने से घबराते रहें। । 80 ।

॥ दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजाः संरक्षति ॥

जो राजा दंडनीति को अपने अधिकार में रखता है, वही प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता है।

दंडनीति का निर्धारण करना राज्यसत्ता का कार्य है। इस प्रकार के दंड की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे शत्रु अथवा राज्य-विरोधी लोग प्रजा को कष्ट पहुंचाने में समर्थ न हो

सकें। दंडनीति निर्धारित करने के साथ राजा का कर्त्तव्य है कि वह समय-समय पर उसकी समीक्षा भी करता रहे। यदि किसी राज्य की नीति निर्बल होगी तो उससे प्रजा की रक्षा नहीं हो पाएगी, प्रजा संकट में पड़ जाएगी, इसलिए ऐसी दंडनीति का निर्धारण करना चाहिए जिससे प्रजा अपने आपको सुरक्षित अनुभव करे। । 81 ।

॥ दंडः सम्पदां योजयति ॥

दंड द्वारा ही राजा या राज्य को समस्त संपत्तियां प्राप्त होती हैं अर्थात् वह समस्त संपत्तियों से संपन्न बनता है।

दंड न्याय का पर्यायवाची है। दंड ही न्याय है। प्रजा दंड से ही वश में रहती है। राज्य में दंड-व्यवस्था न रहने से क्रय-विक्रय, खान, आयकर, तटकर, ऋणदान, न्याय-अन्याय, हाट-व्यवस्था आदि से आय के समस्त स्रोत प्रभावित होते हैं। बड़े लोग छोटों को लूटकर खाने लगते हैं। तब देश में उपद्रव खड़े हो जाते हैं। इससे राज्यनाश या संपत्तिनाश की स्थिति बन जाती है। अतः दंड-संबंधी राजा के नियम इस प्रकार के होने चाहिए जिससे किसी भी व्यक्ति को उनके विरुद्ध जाने का साहस न हो। । 82 ।

॥ दण्डाभावे मन्त्रिवर्गाभावः ॥

राज्य में दंडनीति से उपेक्षित होने पर राजा योग्य मंत्रियों को छोड़कर अयोग्य मंत्रियों के वश में हो जाता है।

जब राज्य में दंडनीति की उपेक्षा होने लगती है तो राजा को उचित परामर्श देने वाले मंत्रियों का अभाव बन जाता है। देश अथवा पड़ोसी शत्रु राष्ट्र के संबंध में दंडनीति का सही उपयोग करने के लिए चतुर परामर्शदाता मंत्रियों की आवश्यकता होती है। जो राजा इस बात से इनकार करता है अथवा इस बात की उपेक्षा करता है, उसे चापलूस अधिकारी घेर लेते हैं। ऐसी स्थिति में राजा मनमाने कार्य करने लगता है। इससे राष्ट्र की हानि होती है। । 83 ।

॥ न दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति ॥

अपराधी प्रवृत्ति के लोग दंड अथवा जुर्माने आदि के भय से राष्ट्र के विधान-विरोधी कार्यों से दूर रहते हैं।

जिस राज्य में दंड के भय से दुष्ट व्यक्ति अपराध नहीं करते, उसे ही धर्म का शासन कहा जाता है। उसी राज्य में धर्म और अर्थ की रक्षा होती है।

धर्म और अर्थ की रक्षा का भाव यह है कि अपराधी प्रवृत्ति के लोग यह जानते हैं कि राष्ट्र-विरोधी कार्य करने से उन्हें कठोर दंड दिया जाएगा। इसलिए वह राज्य-विरोधी पाप-कर्म करने से अलग रहते हैं। ऐसे ही राज्य को धर्मयुक्त राज्य कहा जाता है। । 84 ।

॥ दण्डनीत्यामायतमात्मरक्षणम् ॥

दंड संबंधी नीतियों को ठीक रखने से आत्मरक्षा हो सकती है।

स्पष्ट दंडनीति के द्वारा ही राष्ट्र सुरक्षित रह सकता है। राज्य का कल्याण इसी बात पर निर्भर करता है कि दंडनीति संबंधी नियम क्या हैं और उनका क्या प्रभाव होता है। उसकी दंडनीतियां प्रजा का कल्याण करने वाली हों, प्रजा का कल्याण ही उसका अपना कल्याण होता है और प्रजा की रक्षा ही राष्ट्र की रक्षा कहलाती है अर्थात् प्रजा के अस्तित्व से अधिक राजा का अस्तित्व नहीं होता। प्रजा की सुरक्षा के बिना राजा की सुरक्षा कैसे हो सकती है?।

85 ।

॥ आत्मनि रक्षिते सर्वे रक्षितं भवति ॥

राजा के सुरक्षित रहने से ही पूरे राष्ट्र को सुरक्षित किया जा सकता है।

चाणक्य के सूत्र को जन-सामान्य और राजा संबंधी दोनों दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। चाणक्य ने अन्य स्थानों पर भी कहा है कि मनुष्यों को अपनी रक्षा के लिए सबकुछ बलिदान करने के लिए नहीं हिचकना चाहिए। यदि वह इस प्रकार अपनी रक्षा कर लेता है तो नष्ट हुई धन-संपत्ति को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकता है। इसी प्रकार यदि राजा अपनी आत्मरक्षा करने में समर्थ है तो इसे पूरे राष्ट्र को सुरक्षित समझा जा सकता है। । 86 ।

॥ आत्मायत्तौ वृद्धिविनाशौ ॥

मनुष्य की वृद्धि और विनाश उसके अपने हाथ में होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में लिखा है कि मनुष्य अपना ही सबसे बड़ा मित्र और अपना ही सबसे बड़ा शत्रु होता है। वह अपने ही कार्यों से सबकुछ बनाता है और बिगाड़ता भी है। इसी प्रकार राष्ट्र की वृद्धि और उसका पतन राजा के हाथ में है। राजा की योग्यता और अयोग्यता भी किसी राज्य की वृद्धि और विनाश का कारण होती है। राजा यदि योग्य होगा तो राज्य का विस्तार होने के साथ धन-धान्य से समृद्ध भी होगा। यदि वह नीतिहीन, शराबी, व्यभिचारी और दुर्व्यसनों में फंसा हुआ है तो राष्ट्र का विनाश हो जाएगा। अर्थात् मनुष्य की वृद्धि और विनाश उसके अपने व्यवहार पर निर्भर करता है। । 87 ।

॥ दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते ॥

दंडनीति का प्रयोग सावधानीपूर्वक, सोच-समझकर किया जाना चाहिए।

दंडनीति के संबंध में यदि सही ढंग से उस पर विचार किया जाए तो उसकी

अनिवार्यता और वास्तविकता प्रकट होती है। इसी प्रकार दंड का प्रयोग करते समय भली प्रकार से विचार करना चाहिए।

इस सूत्र से ऐसा ज्ञात होता है कि उस काल में दंड-विधान तो था परंतु उसका स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं था। इसलिए प्रत्येक स्थिति में दंड-संबंधी निर्णयों पर विशेष रूप से विचार करना आवश्यक है। इसलिए चाणक्य ने दंड के संबंध में यह कहा है कि इसका प्रयोग बहुत सोच-समझकर करना चाहिए क्योंकि दंड के प्रयोग, परिणाम, दूरगामी होते हैं। उसका प्रभाव बहुत व्यापक होता है। इसलिए दंड देते समय भली प्रकार विचार किया जाना चाहिए। । 88

|

॥ दुर्बलोऽपि राजा नावमन्तव्यः ॥

राजा को निर्बल और एक साधारण आदमी समझकर उसकी आज्ञा की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

जो लोग राजा अथवा राज्य-प्रशासन को कमजोर और साधारण मानते हैं और उसकी आज्ञाओं अथवा विधान का उल्लंघन करते हैं, वे राष्ट्रीय अपराध करते हैं। राज्य की उपेक्षा अथवा अपमान करने से सभी की हानि होती है। उससे राष्ट्र का व्यापक अहित होता है। इसलिए जो लोग राजा अथवा शासन-व्यवस्था को कमजोर मानते हैं, वे अंधकार में रहते हैं। राजा अथवा शासन का यह कर्तव्य है कि वह अपने आपको शक्तिशाली बनाए और नियमों का कठोरता से पालन करे। । 89 ।

॥ नास्त्यग्नेर्दौर्बल्यम् ॥

अग्नि को कभी दुर्बल नहीं समझना चाहिए।

एक छोटी-सी चिंगारी भारी अग्नि-काण्ड का रूप धारण कर सकती है और भयंकर विनाश हो सकता है। उससे विशाल जंगल भस्म हो जाते हैं। इसी प्रकार जिन लोगों में राज्यश्री प्रकट होती है उनकी शक्ति क्षीण दिखाई देने पर भी जनता को संगठित करने की शक्ति के कारण प्रबल रूप धारण कर लेती है। इसलिए उसकी अवमानना नहीं करनी चाहिए। । 90 ।

॥ दण्डे प्रतीयते वृत्तिः ॥

राजा की संपूर्ण शासकीय योग्यता उसकी दंडनीति से प्रकट होती है। । 91 ।

॥ वृत्तिमूलमर्थलाभः ॥

धन-धान्य की प्राप्ति अथवा राज्य का समृद्ध होना राजा के चरित्र पर निर्भर करता

है।

राज्य का समृद्ध होना राजा के चरित्र पर निर्भर करता है। राज्यश्री उसी राजा को प्राप्त होती है जो अपनी इंद्रियों को संयम में रखता हुआ प्रजा के कल्याण के लिए निरंतर कार्य करता है। अतः राजा को चरित्रवान् होना चाहिए। । 92 ।

॥ अर्थमूलौ धर्मकामौ ॥

धर्म का अनुष्ठान तथा राष्ट्र की कामनाओं की पूर्ति राज्यैश्वर्य की स्थिरता पर ही निर्भर रहा करता है।

सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए मानसिक उत्कर्ष, धर्म का अनुष्ठान और राष्ट्रीय कामनाओं की पूर्ति तभी हो सकती है जब राज्यैश्वर्य स्थिर रहता है अर्थात् धर्म की रक्षा करते हुए धन-संग्रह अथवा राज्यश्री की वृद्धि करनी चाहिए। राज्यैश्वर्य की वृद्धि तभी होती है जब राजा और प्रजा के कार्य धर्म पर आधारित हों। अर्थात् धर्म का पालन धन के बिना नहीं हो सकता तथा धन से ही कल्याण भी किया जा सकता है। । 93 ।

॥ अर्थमूलं कार्यम् ॥

अर्थ अथवा धन कार्यों का मूल होता है।

कठोर कर्मों से ही राज्यश्री की वृद्धि होती है। धनार्जन करने के लिए व्यक्ति को कार्य करना पड़ता है। धन से ही सारे कार्य संपन्न होते हैं। धन के बिना जिस प्रकार मनुष्य निर्जीव होता है, उसी प्रकार धनहीन राष्ट्र अथवा राजा भी जनता के हित का कोई कार्य नहीं कर सकता। जैसे पर्वत से निकलकर बहती हुई नदी लोगों को जीवन प्रदान करती है, उसी प्रकार धन के प्रवाह से समस्त कार्य संपन्न होते हैं। । 94 ।

॥ यदल्पप्रयत्नात् कार्यसिद्धिर्भवति ॥

राज्यश्री प्राप्त होने पर कोई भी कार्य थोड़ा-सा प्रयत्न करने पर ही सिद्ध हो जाता है।

किसी राष्ट्र के कार्यों की सिद्धि उसके समृद्ध होने पर ही निर्भर करती है। यदि राष्ट्र में शक्ति है और उसके राजकोष में धन की कमी नहीं है तो ऐसे राष्ट्र के लिए कोई भी कार्य करना कठिन नहीं होता। । 95 ।

॥ उपायपूर्वं न दुष्करं स्यात् ॥

यदि कोई कार्य उपायपूर्वक किया जाए तो उसके संपन्न होने में कोई कठिनाई नहीं होती।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, कार्य की सफलता के लिए प्रयत्न का उतना महत्त्व नहीं जितना उपाय का होता है। देखना यह होता है कि मनुष्य ने किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए किन उपायों का प्रयोग किया। यदि किसी कार्य को सही ढंग से किया जाए तो वह बहुत थोड़े समय में भी संपन्न हो जाता है। यदि उपाय सही न हो तो कार्य के सिद्ध होने में ही संदेह बना रहता है। । 96 ।

॥ अनुपायपूर्व कार्य कृतमपि विनश्यति ॥

पहले कोई उपाय सिद्ध किए बिना प्रारंभ किया हुआ कार्य नष्ट हो जाता है अर्थात् उपाय पूर्वक कार्य न करने से कार्य सिद्ध नहीं होते।

कार्य सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि निर्धारित योजना बनाई जाए, उस योजना पर चलने के लिए उचित उपाय निश्चित किए जाएं। कोई भी कार्य प्रारंभ करने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति अथवा राष्ट्र को यह देख लेना चाहिए कि उस कार्य को करने के लिए उसकी शक्ति कितनी है। वह किन उपायों द्वारा कार्य सिद्ध करना चाहता है? यदि उपाय सही होंगे तो कार्य जल्दी सिद्ध हो जाएगा, अन्यथा कार्य बिगड़ जाएगा। । 97 ।

॥ कार्यार्थिनामुपाय एव सहायः ॥

इस सूत्र में भी चाणक्य का कहना है कि जीवन में उपायों का क्या महत्त्व होता है अर्थात् उपाय ही कार्य सिद्ध करने वालों के लिए सच्चा सहायक सिद्ध होता है। । 98 ।

॥ कार्यं पुरुषकारेण लक्ष्यं सम्पद्यते ॥

कार्य अपना स्वरूप निर्धारित करने के बाद लक्ष्य बन जाता है।

जब तक मनुष्य अपने कार्यों को कर्तव्य मानकर उसे लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक उनका सिद्ध होना कठिन होता है। मनुष्य के लिए उसके जीवन का लक्ष्य अपने कर्तव्य का पालन करना होता है। जो व्यक्ति मनुष्य जन्म पाकर अपने कर्तव्य को पूरा नहीं करता, वह अपने जीवन के लक्ष्य को भी प्राप्त नहीं कर सकता। । 99 ।

॥ पुरुषकारमनुवर्तते दैवम् ॥

भाग्य पुरुषार्थ के पीछे चलता है।

‘उद्योगिनं पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी, दैवेनदेयमिति कापुरुषा वदन्ति’ अर्थात् जो व्यक्ति पुरुषार्थ करता है, उसे ही लक्ष्मी प्राप्त होती है अर्थात् उसके कार्य सिद्ध होते हैं, भाग्य का सहारा तो कमजोर और कायर व्यक्ति लेते हैं। यहां भाग्य के रहस्य को भी समझना आवश्यक है। भाग्य के मूल में भी पुरुषार्थ ही तो होता है। भाग्य को प्रारब्ध भी कहते हैं।

अतीत का पुरुषार्थ ही वर्तमान में 'भाग्य' बन जाता है। । 100 ।

॥ दैवं विनातिप्रयत्नं करोति यत्तद्विफलम् ॥

भाग्य अनुकूल न हो तो सही ढंग से किया हुआ कार्य भी भौतिक फल प्रदान नहीं करता।

परंतु भाग्य की अनुकूलता को किसी कार्य के लिए इतना महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए, जितना प्रयत्न को। यदि मनुष्य बुद्धिमत्तापूर्वक सही ढंग से कार्य करता है तो भाग्य भी उसके अनुकूल हो जाता है। वास्तव में जो कार्य केवल स्वार्थ से प्रेरित होकर किए जाते हैं, हो सकता है उनके लिए भाग्य की अनुकूलता आवश्यक हो। परंतु जो कार्य जनहित के लिए किए जाते हैं, उनके प्रति संपूर्ण भावना भाग्य को भी अनुकूल बना देती है। केवल भाग्य के भरोसे बैठे रहने से कार्य नहीं चलता। । 101 ।

॥ असमाहितस्य वृत्तिर्न विद्यते ॥

अव्यवथित चित्त वाले व्यक्ति के पास सद्व्यवहारपूर्ण सद्भावना नहीं रहती।

जिस व्यक्ति का चित्त अथवा बुद्धि स्थिर नहीं रहती, उसकी हानि होती है। जिस व्यक्ति का मन स्थिर नहीं होता उससे सद्व्यवहार की आशा करना व्यर्थ है। उसकी सद्भावना समाप्त हो जाती है। उसकी चित्तवृत्तियां क्षण-क्षण में बदलती रहने के कारण विश्वास के योग्य नहीं रहतीं, इससे न तो उसका कोई कार्य संपन्न होता है और न कोई लाभ होता है। । 102 ।

॥ पूर्व निश्चित्य पश्चात् कार्यमारभेत् ॥

कार्य आरंभ करने से पहले उसके विषय में सभी पहलुओं पर मन में विचार कर लेना चाहिए। कार्य को किन उपायों से पूर्ण किया जाएगा, इस संबंध में पूर्णतः निश्चित होने के बाद ही कार्य प्रारंभ करना चाहिए।

कार्य के संबंध में सभी बातों पर विचार किए बिना कार्य प्रारंभ करने से अनेक प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। कहा भी है—'बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।' अर्थात् बुद्धिमान पुरुष को कार्य प्रारंभ करने से पूर्व सभी बातों पर विचार कर लेना चाहिए। उसे इस बात को सिद्धांत के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। । 103 ।

॥ कार्यान्तरे दीर्घसूत्रिता न कर्त्तव्या ॥

कार्य आरंभ करने के बाद अति विलंब अथवा आलस्य नहीं करना चाहिए। अति विलंब तथा आलस्य कर्त्तव्य से भ्रष्ट होने का चिह्न है।

कोई भी कार्य प्रारंभ करने के बाद उसे पूरा करने में देरी अथवा आलस्य नहीं करना चाहिए। उसके संबंध में यह नहीं सोचना चाहिए कि उसे पूरा करने की अभी क्या जल्दी है? ऐसे विचार हानिकारक हैं। इससे मनुष्य के मन में आलस की भावना पैदा होती है और थोड़े समय में समाप्त होने वाला कार्य लंबे समय तक अपूर्ण रहता है। । 104 ।

॥ न चलचित्तस्य कार्यावाप्तिः ॥

कार्य करते समय जिनका चित्त चंचल रहता है, उनके कार्य कभी समाप्त नहीं होते। अस्थिर चित्त और थोड़ी-थोड़ी देर में जिस व्यक्ति के विचार बदलते हों, उसका कोई भी कार्य पूरा होने में संदेह रहता है। चंचल चित्तवाला व्यक्ति प्रत्येक बात में संदेह करता रहता है। संदेह करने वाले के काम तो कभी पूरे नहीं होते परन्तु वह स्वयं पूरा (समाप्त) हो जाता है। । 105 ।

॥ हस्तगतावमाननात् कार्यव्यतिक्रमो भवति ॥

कार्य को सिद्ध करने के लिए मनुष्य के हाथ में जो साधन हों, उनका सदुपयोग करना चाहिए। जो साधनों का सदुपयोग नहीं कर सकता उसका कार्य नष्ट हो जाता है।

कार्यसिद्धि के लिए मूर्ख लोग ऐसे साधनों के पीछे भटकते हैं जो उन्हें प्राप्त नहीं होते। वास्तव में उन्हें कार्य को सिद्ध करने के साधनों का मूल्यांकन करना नहीं आता। साधनों के संबंध में यदि मनुष्य के विचार स्थिर नहीं हैं तो उसे कार्य सिद्ध करने में सफलता प्राप्त नहीं होती। । 106 ।

॥ दोषवर्जितानि कार्याणि दुर्लभानि ॥

संसार में ऐसे कार्य का मिलना कठिन है जिनमें कोई दोष न हो।

मनुष्य जो भी कार्य करता है, उसे पूर्णतया निर्दोष नहीं कहा जा सकता। उसमें कहीं-न-कहीं कोई कमी अवश्य रह जाती है। मनुष्य स्वयं अपने आप में अपूर्ण है। इसीलिए यह समझना अत्यंत कठिन है कि वह जो भी कार्य करेगा उसमें कोई दोष नहीं रहेगा।

दोष व निर्दोष के संबंध में भी विभिन्न व्यक्तियों के विचार भिन्न हो सकते हैं क्योंकि यदि प्रकृति की ओर देखा जाए तो भी उसमें अनेक लोगों के विचार से दोष दिखाई देंगे। । 107 ।

॥ दुरनुबन्धं कार्यं नारभेत् ॥

मनुष्य को ऐसे कार्य में हाथ नहीं डालना चाहिए जिनके परिणाम निश्चित रूप से शुभ न हों।

अशुभ कार्य करने से मनुष्य को हानि होती है। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह जो भी कार्य प्रारंभ करे उसके संबंध में उसे पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि इसका परिणाम अच्छा होगा। । 108 ।

॥ कालवित् कार्य साधयेत् ॥

अनुकूल समय को पहचानने वाला व्यक्ति अपना कार्य बड़ी सरलता से सिद्ध कर देता है।

बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है कि कोई कार्य प्रारंभ करने से पूर्व उसे यह देखना चाहिए कि समय उसके अनुकूल है अथवा प्रतिकूल। समय की अनुकूलता के अतिरिक्त उसे अपने सहायकों और परिस्थितियों के विषय में भी विचार करना चाहिए। उसे यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि कार्य सिद्ध करने में कितना व्यय होगा।

इस प्रकार की बातों पर विचार करने से मनुष्य समय को अपने अनुकूल बना लेता है। जो इन बातों पर विचार नहीं करता, वह समय अनुकूल होने पर भी कार्यसिद्ध करने में असफल रहता है।

इसीलिए व्यक्ति को कार्य सिद्धि के लिए उचित समय को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए, जिस प्रकार गर्म लोहे पर चोट करने से ही उसे अपनी इच्छानुसार ढाला जा सकता है, इसी प्रकार अनुकूल समय पर कार्य करने से कार्य जल्दी सिद्ध हो जाता है। । 109 ।

॥ कालातिक्रमात् काल एव फलं पिबति ॥

कर्तव्य का समय टल जाने से स्वयं काल ही उसकी सफलता को चाट जाता है।

जो काम किसी निश्चित समय पर किया जाना आवश्यक होता है, यदि वह समय हाथ से निकल जाए तो उसका सफल होना असंभव होता है। कारण स्पष्ट है, सफलता के लिए तैयार स्थितियां-परिस्थितियां बिखर जाती हैं। । 110 ।

॥ क्षणं प्रति कालविक्षेपं न कुर्यात् सर्वकृत्येषु ॥

मनुष्य किसी भी निश्चित कर्तव्य में क्षणमात्र का विलंब न करे।

मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भी निश्चित कर्तव्य में एक क्षण भी विलंब न करे। ठीक समय पर किये गये काम की सफलता मनुष्य को दिखा देती है कि यह काम जिस क्षण में किया गया है, वही उसका सर्वोत्तम काल था। कार्य के उचित समय को पहचानना ही मनुष्य के सीखने की सर्वोत्तम कला मानी गयी है। । 111 ।

॥ देशफलविभागौ ज्ञात्वा कार्यमारभेत् ॥

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह परिस्थितियों और कार्य की सफलता की संभावना, दोनों को पूर्ण रूप से समझकर कार्य प्रारंभ करे।

जो व्यक्ति समय, देश और परिस्थितियों को विचारकर कार्य नहीं करता उसे सफलता नहीं मिलती। कार्य प्रारंभ करने से पूर्व व्यक्ति को इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि कार्य की सफलता की कितनी संभावना है। । 112 ।

॥ दैवहीनं कार्यं सुसाध्यमपि दुःसाध्यं भवति ॥

यदि भाग्य प्रतिकूल हो तो आसानी से सिद्ध होने वाला कार्य भी कठिनता से सिद्ध होने वाला दिखाई देता है।

परिस्थितियों के अनुकूल न होने पर आसानी से सिद्ध होने वाला कार्य भी कठिन दिखाई देने लगता है। मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि वह अपने पुरुषार्थ से उस कार्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करे, क्योंकि उद्यमी पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है, 'दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।' प्रतिकूल स्थितियों की बात तो कायर पुरुष करते हैं। उद्यमी पुरुष अपने परिश्रम से परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेते हैं। पुरुषार्थी मनुष्यों ने संसार में ऐसे कार्य कर दिखाए हैं जिनके संबंध में आज भी आश्चर्य होता है। मनुष्य को चाहिए कि कार्य की कठिनता से न घबराकर पुरुषार्थ से उसका मुकाबला करे। । 113 ।

॥ नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत् ॥

कर्त्तव्य को विवेक से करना नीतिवान् मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है।

व्यवहार-कुशल व्यक्ति परिस्थितियों और सुअवसर दोनों बातों का पूर्ण ज्ञान करने के बाद ही कार्य प्रारंभ करता है। वह कार्य प्रारंभ करने से पूर्व भली प्रकार उसकी विवेचना करता है। नीतिवान् व्यक्ति वही है जो कार्य को बिना विचारे ही आरंभ नहीं कर देता। । 114 ।

॥ परीक्ष्यकारिणि श्रीश्वरं तिष्ठति ॥

भली प्रकार सोच-विचारकर तथा अवसर को पहचानने के बाद जो व्यक्ति कार्य करता है, उसे ही सफलता प्राप्त होती है। । 115 ।

॥ सर्वाश्च सम्पदः सर्वोपायेन परिग्रहेत् ॥

राजा का कर्त्तव्य है कि वह सभी प्रकार के उपायों से अर्थात् अपनी बुद्धि-कौशल से सभी प्रकार की संपत्तियों का संग्रह करे।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह साम, दान, दंड, भेद आदि उपायों से संपत्तियों का संचय

करे। उसके लिए सभी प्रकार के साधनों और संपत्तियों का संचय करना इसलिए आवश्यक है कि उन्हीं से वह प्रजा का हित कर सकता है। प्रजा की भलाई के लिए राजा को सभी साधन जुटाने चाहिए। संकेत है कि राजा की दृष्टि बहुमुखी होनी चाहिए। । 116 ।

॥ भाग्यवन्तमपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ॥

सफलता का अवसर पहचाने बिना कार्य प्रारंभ करनेवाला व्यक्ति लक्ष्मी रहित हो जाता है अर्थात् लक्ष्मी उसे छोड़ जाती है।

व्यक्ति भले ही अपने आपको भाग्यवान् समझता हो परंतु यदि वह समय को पहचाने बिना, भली प्रकार जांच किए बिना कार्य प्रारंभ करता है तो उसे सफलता प्राप्त नहीं होती। । 117 ।

॥ ज्ञानेनानुमानैश्च परीक्षा कर्त्तव्या ॥

इस सूत्र का भाव यह है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य की परीक्षा के साधनों का किस प्रकार पता लगाना चाहिए। उसका कर्त्तव्य यह है कि वह अपने अनुभव-शक्ति तथा विचार-शक्ति दोनों के सहारे परिणाम के कारणों का ठीक-ठीक पता करके यह निश्चय करे कि यह काम किस प्रकार से होना है। । 118 ।

॥ यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः तं तस्मिन्नेव योजयेत् ॥

जो व्यक्ति जिस काम को करने में कुशल हो, उसे वही कार्य करने का भार सौंपना चाहिए।

राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति करते समय उनकी योग्यता का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है। जो व्यक्ति जिस प्रकार की योग्यता रखता हो उसे वही कार्य सौंपना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कार्य करता है जिसका उसे अनुभव नहीं तो उस कार्य के बिगड़ जाने से राज्य को हानि होती है। राज्य की हानि का अर्थ प्रजा के कष्टों से आंका जा सकता है। । 119 ।

॥ दुःसाध्यमपि सुसाध्यं करोति उपायज्ञः ॥

जब व्यक्ति किसी कार्य को करने का उपाय जानता है तो वह कठिन-से-कठिन कार्य को भी आसान बना देता है।

इसका भाव यह है कि प्रत्येक कार्य को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए विभिन्न उपायों की आवश्यकता होती है। जिसे उपायों का ज्ञान नहीं होता उसके लिए सरल कार्य करना भी कठिन हो जाता है परंतु जो उपायों को जानता है अथवा समय के अनुरूप साधन जुटा लेता

है, उसके लिए कठिन-से-कठिन कार्य भी करना सरल हो जाता है। । 120 ।

॥ अज्ञानिना कृतमपि न बहु मन्तव्यम् ॥

चाणक्य कहते हैं कि यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति किसी कार्य को सफल बना लेता है तो उसकी सफलता को आकस्मिक घटना मानकर उसे महत्त्व नहीं देना चाहिए।

वस्तुतः इसका भाव यह है कि यदि कोई अनाड़ी व्यक्ति किसी कार्य को सिद्ध कर लेता है तो उसे एक आकस्मिक घटना मान लिया जाता है और उसे उस कार्य को कर लेने का महत्त्व नहीं मिलता, क्योंकि आकस्मिक रूप से किया हुआ वह काम उसके ज्ञान के कारण नहीं किया होता। । 121 ।

॥ यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि करोति ॥

यह सूत्र भी पहले सूत्र की बात को पुष्ट करता है।

इसका भाव यह है कि जैसे घुन या कीड़ा किसी पदार्थ के आकस्मिक रूप को बिना किसी ज्ञान के बदल देता है उससे उसकी निर्माणकुशलता प्रमाणित नहीं होती। इसलिए यदि अज्ञानी व्यक्ति अचानक कोई कार्य संपन्न कर लेता है तो उसे केवल संयोग ही मानना चाहिए, उसकी कार्यकुशलता नहीं। जिस प्रकार लकड़ी में रहने वाला घुन नामक कीड़ा लकड़ी को खाता हुआ उसमें विभिन्न प्रकार की आकृतियां बना देता है, भले ही वह आकृतियां देखने में सुंदर हों, तो भी घुन के कीड़े को उसका श्रेय नहीं मिलता क्योंकि उसको कुछ ज्ञान नहीं होता। वह तो उसका एक आकस्मिक कार्य होता है। । 122 ।

॥ सिद्धस्यैव कार्यस्य प्रकाशनं कर्त्तव्यम् ॥

किसी कार्य के सिद्ध हो जाने पर ही उसके संबंध में लोगों को जानकारी देनी चाहिए।

भाव यह है कि व्यक्ति जब कोई कार्य सिद्ध करना चाहता है तो उसे गुप्त रखकर ही सिद्ध किया जा सकता है। यदि उस कार्य के संबंध में लोगों को पहले ही ज्ञान हो जाएगा, तो संभवतः कोई अन्य व्यक्ति यह कार्य कर डाले। । 123 ।

॥ ज्ञानवतामपि दैवमानुषदोषात् कार्याणि दुष्यन्ति ॥

कभी-कभी बहुत से कार्य प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण अथवा किसी मनुष्य द्वारा कोई त्रुटि रहने पर अधूरे रह जाते हैं अर्थात् सिद्ध नहीं हो पाते।

अनेक बार ऐसा हो जाता है कि प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण कार्य पूरे नहीं हो पाते। कई बार इनके पूरे न होने का कारण मानवीय त्रुटियों को माना जाता है। कई बार

परिस्थितियां भी मनुष्य का साथ नहीं देतीं। इसलिए बहुत से काम सिद्ध नहीं हो पाते, अधूरे रह जाते हैं। इनको पूरा करने का एकमात्र उपाय यही है कि मनुष्य सोच-समझकर प्रयत्न करता हुआ प्रतिकूल परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे। । 124 ।

॥ दैवं शान्तिकर्मणा प्रतिषेद्धव्यम् ॥

दैवी विपत्तियों के संबंध में व्यक्ति को अपनी बुद्धि स्थिर रखनी चाहिए और शांत रहते हुए दैवी विपत्तियों से छुटकारे का प्रयत्न करना चाहिए।

दैवी विपत्तियां अनेक प्रकार की होती हैं। भूकंप, बाढ़, तूफान, राष्ट्र में विद्रोह अथवा आतंकवादियों के आक्रमण आदि को इस श्रेणी में रखा जाता है। उस समय व्यक्ति रोककर अथवा चिल्लाकर तथा किसी दूसरे के सिर पर दोष मढ़कर विपत्तियों से छुटकारा नहीं पा सकता। इस प्रकार की विपत्तियों के समय व्यक्ति को अपनी बुद्धि स्थिर रखनी चाहिए और शांत रहकर विपत्तियों से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना चाहिए। । 125 ।

॥ मानुषीं कार्यविपत्तिं कौशलेन विनिवारयेत् ॥

दैवी विपत्तियों के समान कुछ विपत्तियां ऐसी भी होती हैं जो मनुष्य द्वारा पैदा की जाती हैं। ऐसा कार्य को बिगाड़ने के लिए किया जाता है। मनुष्य द्वारा पैदा की जाने वाली विपत्तियों को सतर्कता और बुद्धि-कौशल से ही परास्त किया जा सकता है। । 126 ।

॥ कार्यविपत्तौ दोषान् वर्णयन्ति बालिशाः ॥

मूर्ख लोग किसी कार्य में असफल रहने के बाद या तो अपनी भूलों पर पछतावा करते हैं या फिर आपस में एक-दूसरे पर दोष लगाकर अपने आप को निर्दोष साबित करते हैं। । 127 ।

॥ कार्यार्थिना दाक्षिण्यं न कर्त्तव्यम् ॥

राज्य के जो अधिकारी कार्य को सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें शत्रुओं के प्रति भावुकता, उदारता, सरलता और भोलेपन में बहकर मिथ्या सहानुभूति नहीं बरतनी चाहिए।

राज्य के अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे शत्रुओं को सदैव शंका की दृष्टि से देखें। उनके प्रति उन्हें किसी प्रकार की उदारता आदि का व्यवहार नहीं करना चाहिए। भावुकता में बहकर उनके प्रति ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिससे राष्ट्र की हानि हो। शत्रुओं के प्रति राज्य के अधिकारियों को सदैव संदेहशील रहकर कार्य करना चाहिए। । 128 ।

॥ क्षीरार्थी वत्सो मातुरूधः प्रतिहन्ति ॥

बछड़ा दूध पीने की इच्छा से अपनी मां के स्तनों पर अपने सिर से चोट करता है।

भाव यह है कि मनुष्य को किसी भी चीज की प्राप्ति के लिए स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। गाय भी अपने बछड़े को तब तक दूध नहीं पिलाती जब तक वह अपने माथे से उसके थनों पर चोट नहीं करता। इसी प्रकार बच्चे की माता भी बच्चे के रोने पर ही उसे दूध पिलाती है अर्थात् व्यक्ति अपने प्रयत्नों से ही इस संसार में कुछ प्राप्त कर सकता है। कोई उसे कुछ देने नहीं आता। । 129 ।

॥ अप्रयत्नात् कार्यविपत्तिर्भवति ॥

कार्य की सिद्धि के लिए जितने प्रयत्नों की आवश्यकता होती है उतना प्रयत्न न करने से कार्य नष्ट हो जाता है।

अनेक बार कार्यों के पूर्ण न होने का कारण यह होता है कि उसे पूर्ण करने के लिए जितने प्रयत्नों की आवश्यकता होती है, वे सब नहीं किये जाते। कोई कार्य करते समय व्यक्ति समझता है कि उसने बहुत प्रयत्न किए हैं परंतु फिर भी कार्य सिद्ध नहीं होता। इसका कारण यही है कि व्यक्ति ने उतना प्रयत्न नहीं किया जितना उस कार्य को सिद्ध करने के लिए आवश्यक था। । 130 ।

॥ न दैवप्रमाणानां कार्यसिद्धिः ॥

जिन्हें कार्य आरंभ करने से पहले ही कार्य में असफल रहने का निश्चय होता है, उनके कार्य कभी पूर्ण नहीं होते। जो यह समझते हैं कि उनका कार्य सफल नहीं होगा, वे कोई कार्य प्रारंभ ही नहीं करते।

व्यक्ति तीन प्रकार के होते हैं—पहले प्रकार के व्यक्तियों को अधम श्रेणी में रखा गया है। वे असफलता और कठिनाइयों के भय से कार्य प्रारंभ ही नहीं करते। मध्यम श्रेणी के लोग जोश में आकर कार्य तो प्रारंभ कर देते हैं परंतु कठिनाइयां आने पर कार्य को बीच में ही छोड़ देते हैं। तीसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं जो कार्य को एक बार आरंभ करने पर अनेक प्रकार के संकट आने पर उसे पूरा किए बिना नहीं छोड़ते। उन्हें उत्तम श्रेणी का व्यक्ति माना जाता है। । 131 ।

॥ कार्यबाह्यो न पोषयत्याश्रितान् ॥

अपने कर्तव्य से बचने का प्रयत्न करने वाले लोग अपने आश्रितों का भरण-पोषण नहीं कर पाते।

जो व्यक्ति अपने कार्य से अथवा दायित्व से बचने का प्रयत्न करता है, एक दिन उसके आश्रित लोग ही भूखों मरने लगते हैं। वह अपने आश्रित व्यक्तियों का भी भरण-

पोषण नहीं कर पाता। । 132 ।

॥ यः कार्यं न पश्यति सोऽन्धः ॥

जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को नहीं पहचानता वह आंखों के रहते हुए भी अंधा है।

जो व्यक्ति विवेक से काम न लेकर अपने लक्ष्य के प्रति सचेत नहीं रहता उसे वास्तव में अंधा कहा जाना चाहिए अर्थात् वह ऐसा अंधा व्यक्ति है जो मार्ग को देखते हुए भी मार्ग से भटक जाता है। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने कर्त्तव्य को पहचानकर उसे पूरा करने का प्रयत्न करे। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग नहीं रहता वह न तो इस संसार में सम्मान का पात्र होता है और न ही सफल मानव। । 133 ।

॥ प्रत्यक्षपरोक्षानुमानैः कार्याणि परीक्षेत् ॥

व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का निश्चय करने से पूर्व प्राप्त और अप्राप्त साधनों पर विचार करना चाहिए।

व्यक्ति जब कोई कार्य करने लगता है तो उससे पूर्व उसे अपनी शक्तियों का अनुमान होना चाहिए। उसे इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि उसके पास कौन से साधन हैं, जिनसे वह अपने कार्यों को पूरा कर सकता है।

इसके अतिरिक्त उसे उस बात पर विचार करना चाहिए कि प्राप्त साधनों के अतिरिक्त उसे अन्य कौन से साधन प्राप्त हो सकते हैं। जो व्यक्ति इन बातों पर विचार करता है वह निश्चय ही अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करने में समर्थ होता है और जिसे अपने साधनों का अनुमान नहीं होता है उसे असफलता ही हाथ लगती है। । 134 ।

॥ अपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ॥

जो व्यक्ति बिना विचारे कार्य करता है उसे लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती, लक्ष्मी उसका त्याग कर देती है।

चाणक्य फिर कहते हैं कि जो व्यक्ति भली प्रकार बिना विचारे कार्य प्रारंभ कर देता है, उसे हानि उठानी पड़ सकती है। जो व्यक्ति बिना सोचे-विचारे कार्य करता है उसे पछताना पड़ता है। बिना सोचे-समझे कार्य प्रारंभ करने से समय तो नष्ट होता है परंतु उसके साथ शक्तियां और साधनों का भी अपव्यय होता है। । 135 ।

॥ परीक्ष्य तार्या विपत्तिः ॥

किसी कार्य की सफलता के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को विचारपूर्वक दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जब कोई व्यक्ति कार्य प्रारंभ करता है तो उसके मार्ग में कठिनाइयों का आना स्वाभाविक है। यदि व्यक्ति कठिनाइयों से घबराकर कार्यों को छोड़ बैठता है तो वह किसी भी कार्य को पूरा करने में सदैव स्वयं को असमर्थ पाता है।

श्रेष्ठ पुरुष वही होते हैं जो विपत्तियों से घबराते नहीं और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। जबकि निज प्रकृति के लोग विपत्तियों के भय से कार्य को शुरू ही नहीं करते हैं। ।

136 ।

॥ स्वशक्तिं ज्ञात्वा कार्यमारभेत् ॥

अपनी शक्ति को जांच-परखकर मनुष्य को अपना कार्य करना चाहिए।

बहुत से मनुष्य इस संसार में ऐसे हैं जिन्हें मानव जन्म तो प्राप्त हुआ है परंतु उन्हें अपने मन और शरीर में सोई हुई शक्तियों का ज्ञान नहीं। इसलिए सबसे पहले मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि वह कोई भी कार्य प्रारंभ करने से पूर्व कार्य से संबंधित अपने ज्ञान और शक्तियों का अनुमान लगाये। मनुष्य को कोई ऐसा कार्य अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए जो वह करने में असमर्थ हो। । 137 ।

॥ स्वजनं तर्पयित्वा यः शेषभोजी सोऽमृतभोजी ॥

जो व्यक्ति अपने साधनों अथवा धन से अपने बंधु-बांधवों, आश्रित तथा दीन-दुखियों को संतुष्ट करने के बाद शेष धन से अपना गुजारा चलाता है, वह अमृतभोजी होता है।

व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह जो कुछ साधन अथवा धन-समृद्धि आदि प्राप्त करता है, उसे दूसरों के कल्याण के लिए भी प्रयोग में लाये। उसका कर्त्तव्य होता है कि वह सबसे पहले अपने बन्धु-बान्धवों, रिश्तेदारों, अतिथियों, आश्रित लोगों, दीन-दुखियों की सहायता करने के बाद जो कुछ बचे उससे अपना जीवन निर्वाह करे। वह धन उसके लिए अमृत के समान होता है। जो व्यक्ति केवल स्वार्थवश अपना ही ध्यान रखता है उसे मानव कर्त्तव्यों से उदासीन माना जाता है। । 138 ।

॥ सर्वानुष्ठानदायमुखानि वर्धन्ते ॥

जिस राष्ट्र में भूमि, धन-व्यापार, उद्योग-धंधे आदि राष्ट्र हित के कार्य होते रहते हैं, उस राष्ट्र की आय के साधन भी बढ़ते हैं।

जिस देश में कोई भी कार्य प्रारंभ करते समय राष्ट्र के हित को सर्वोपरि रखा जाता है, उस राष्ट्र की आय के साधनों में भी वृद्धि होती है। उसके लिए आय के अनेक द्वार खुल जाते हैं अर्थात् जो राष्ट्र भूमि, धन, व्यापार और शिल्प आदि से संबंधित कार्यों को राष्ट्र हित से जोड़ता है। वह राष्ट्र धन-धान्य से पूर्ण होने लगता है। वहां की प्रजा खुशहाल होती है। ।

॥ नास्ति भीरोः कार्यचिन्ता ॥

कायर पुरुष को अपना कर्त्तव्य पूरा करने की चिन्ता नहीं होती।

वस्तुतः अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए मनुष्य में वीरोचित भावनाएं होनी चाहिए। यदि वह छोटी-छोटी बातों से डरता रहेगा तो अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं कर सकेगा। जिस व्यक्ति के मन में भय बैठा रहता है उसके लिए किसी भी कार्य को पूरा करना कठिन होता है। कार्य को पूरा करने के लिए व्यक्ति में उत्साह के साथ संघर्ष करने की भावना भी होनी चाहिए। मनुष्य के मन में बैठा हुआ डर ही उसे कर्त्तव्यहीन बना देता है। । 140 ।

॥ स्वामिनः शीलं ज्ञात्वा कार्यार्थी कार्यं साधयति ॥

अपने मालिक के स्वभाव को जानकर आश्रित लोग उसके अनुसार कार्य करते हैं।

किसी के अधीन अथवा आश्रय में रहनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आश्रयदाता के स्वभाव से भली प्रकार परिचित हो। उसके स्वभाव से परिचय होने के बाद वह उसकी रुचि के अनुसार कार्य करेगा तो किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी। । 141 ।

॥ धेनोः शीलज्ञः क्षीरं भुंक्ते ॥

इस सूत्र में भी चाणक्य ने इससे पहले के सूत्र में कही हुई बात का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार गाय से दूध लेने वाला व्यक्ति उसके स्वभाव को जानकर दूध लेने में सफल होता है, उसी प्रकार राजा के सेवकों तथा राजा के अधिकारों को राजा की रुचि के अनुकूल अपना कार्य करके राष्ट्र की सेवा का उद्देश्य पूरा करना चाहिए।

वस्तुतः राज्य कार्य चलाने के लिए जो भी व्यवस्था काम कर रही हो, उसका एक विधान होता है। विधान वहां की व्यवस्था का दर्पण कहा जा सकता है इसलिए राजा के अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे विधान के अनुसार काम करें। । 142 ।

॥ क्षुद्रे गुह्यप्रकाशनं आत्मवान्न कुर्वीत (कुर्यात्) ॥

नीच और चंचल बुद्धिवाले अपने सेवक को अपनी गुप्त बातें नहीं बतानी चाहिए।

बुद्धिमान् व्यक्ति अपने नीच व चंचल बुद्धि सेवकों से अपनी कोई गुप्त बात प्रकट नहीं करते। उन्हें अपने सेवकों पर अधिक विश्वास नहीं होता क्योंकि उनके विचार नीतिपूर्ण नहीं होते। वे लोग प्रायः मूर्ख होते हैं। उनकी बुद्धि चंचल होती है, इसलिए समझदार मनुष्य अपना कोई भी भेद उन पर प्रकट नहीं होने देता।

आज के संदर्भ में भी यह बात बहुत महत्वपूर्ण है। अधिकांश अपराधों में घर में काम

करनेवाले नौकरों का ही हाथ होता है। वे थोड़े से लालच में आकर मालिक की हत्या भी कर बैठते हैं। इससे उन्हें लाभ की बजाय हानि होती है। । 143 ।

॥ आश्रितैरप्यवमन्यते मृदुस्वभावः ॥

कोमल स्वभाव का व्यक्ति अपने आश्रितों से अपमानित होता है।

जो व्यक्ति अयोग्य और कुपात्र लोगों के प्रति दयालुता का व्यवहार करता है और प्रेम-पात्र बनने की इच्छा रखता है वह उन विवेकहीन व्यक्तियों से आदर नहीं पाता। उनके साथ उनकी स्थिति के अनुरूप ही व्यवहार करने से लाभ होता है।

भाव यह है कि मनुष्य को नौकरों से अत्यन्त कोमल स्वभाव का नहीं होना चाहिए। उसे परिस्थिति और योग्यता के अनुसार ही उससे व्यवहार करना चाहिए। । 144 ।

॥ तीक्ष्णदण्डः सर्वैरुद्वेजनीयो भवति ॥

छोटे से अपराध पर अत्यंत कड़ा दंड देने वाला शासक सबकी घृणा का पात्र बन जाता है। उसके इस कार्य से उसके शासन में विरोध उत्पन्न होने का भय भी रहता है।

छोटे से अपराध पर अत्यंत कठोर दंड देनेवाले शासक के प्रति लोग घृणा की नीति अपना लेते हैं। सभी उसको बुरा समझने लगते हैं। उसकी कठोर दंड नीति के कारण उसके क्षेत्र में विद्रोह होने की संभावना बढ़ जाती है। अतः दंड देने से पहले अपराधी की प्रवृत्ति और उसके अपराध की स्थिति के संबंध में विचार करना अत्यंत आवश्यक है। । 145 ।

॥ यथार्हदण्डकारी स्यात् ॥

उचित यही है कि राजा यथा योग्य दंड देने वाला होना चाहिए।

जो राजा अपराधियों को दंड नहीं देता और निरपराध लोगों को दंड देता है, उसका अपयश फैलता है। राजा पहले तो अपराध के कारणों तथा अपराध की परिस्थिति और काल को देखें, फिर अपराधी की दंड सहन की शक्ति और अपराध के स्वरूप तथा उसके राष्ट्र पर पड़ने वाले प्रभाव को समझकर दंड दें।

शास्त्रों में कहा है कि अधर्मपूर्वक दिया हुआ दंड यश, कीर्ति और सुख तीनों को नष्ट करनेवाला होता है। इसलिए दंड देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपराध किस प्रकार का है। इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखा जाए कि कोई अपराधी दंड के हाथों से बचने न पाए, क्योंकि दंड से ही राज्य में धर्म-अर्थ और काम तीनों का संरक्षण होता है। शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि दंड के भय से बहुत से लोग पाप करने से बचे रहते हैं। । 146 ।

॥ अल्पसारं श्रुतवन्तमपि न बहु मन्यते लोकः ॥

जो व्यक्ति गम्भीर नहीं है उसके विद्वान् होने पर भी लोग उसे प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखते।

इसका भाव यह है कि विद्वान् और योग्य व्यक्तियों को कुछ गम्भीर भी रहना चाहिए। यदि वह गंभीर नहीं रहता तो लोग उसका उतना सम्मान नहीं करते जितने सम्मान का वह अधिकारी होता है। कुछ बातें ऐसी होती हैं जो व्यक्ति को अपना सम्मान बनाए रखने के लिए करनी पड़ती हैं, भले ही उन बातों का कोई विशेष लाभ न हो। परन्तु मनुष्य हर समय गंभीर भी नहीं बनना चाहता, उसे अपने मित्रों, बन्धु-बान्धवों से खुलकर बात करनी पड़ती है। इसलिए विद्वान् मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह समय, परिस्थितियों और जन-समुदाय को देखकर गंभीरता अथवा सामान्य स्थिति का रुख अपनाये। । 147 ।

॥ अतिभारः पुरुषमवसादयति ॥

शक्ति से अधिक कार्यभार उठाने वाला व्यक्ति उत्साहहीन होकर जल्दी थक जाता है।

मनुष्य जो भी कार्य करे वह उसकी शक्ति के अनुरूप होना चाहिए। यदि वह अपनी शक्ति से अधिक कार्य-भार संभाल लेगा तो उससे वह जल्दी ही थकावट अनुभव करने लगेगा। अधिक थकावट से मनुष्य के शरीर में तनाव पैदा होता है। तनाव स्वयं में एक रोग है, इसीलिए मनुष्य को चाहिए कि वह उतना ही कार्य करने का दायित्व ले, जितना वह सरलतापूर्वक निभा सके। इससे कार्य भी ठीक होगा और काम करनेवाले के मन में उत्साह की भावना भी बनी रहेगी। । 148 ।

॥ यः संसदि परदोषं शंसति स स्वदोषबहुत्वं प्रख्यापयति ॥

जो व्यक्ति संसद अथवा राज्य के लिए नियम निर्धारित करनेवाली समिति में किसी व्यक्तिगत विरोध के कारण किसी के दोषों की आलोचना करने लगता है, वह स्वयं अपने आप को अपराधी घोषित कर देता है।

यहां संसद शब्द आया है। संसद लोकसभा आदि को भी कहते हैं। किसी सभा या समिति को भी संसद कहा जाता है। राज्य से संबंधित किसी विषय पर विचार करते समय सभी वक्ताओं का कर्त्तव्य है कि उसी विषय पर विवाद को सीमित रखें। उसी विषय के गुण-दोषों आदि के संबंध में विचार करें। जो लोग उस समय व्यक्तिगत द्वेष के कारण किसी सदस्य की आलोचना करने लगते हैं, यह उचित नहीं माना जाता। व्यक्तिगत आलोचना करनेवाला स्वयं अपराधी की श्रेणी में आ जाता है।

लोकसभा आदि में अर्थात् विभिन्न प्रदेशों की विधान सभाओं में बहुत-सा समय

व्यक्तिगत आलोचनाओं में समाप्त हो जाता है। इससे राष्ट्र व देश का कोई लाभ नहीं होता। अच्छा सांसद उसी को माना जाता है जो विषय से बाहर न जाकर विषय के सभी पक्षों पर अपने विचार प्रस्तुत करता है। । 149 ।

॥ आत्मानमेव नाशयति अनात्मवतां कोपः ॥

जिन व्यक्तियों का मन सुसंस्कृत नहीं, ऐसे अविवेकी लोग क्रोध करने से अपनी ही हानि करते हैं अर्थात् ऐसे अनैतिक लोगों का क्रोध उनके लिए ही हानिप्रद होता है।

जिन लोगों में अपना हित और अहित विचारने की बुद्धि नहीं होती, ऐसे मूर्ख लोग स्वभाव से ही सत्य का विरोध करने वाले होते हैं। वे अपनी विपरीत बुद्धि के कारण वास्तविकता को नहीं समझ पाते और उससे विपरीत कार्य करते हैं, जिससे मनुष्य अपने विवेक को खो बैठता है। । 150 ।

॥ नास्त्यप्राप्यं सत्यवताम् ॥

जिन व्यक्तियों के पास सत्य रूपी धन है उनके लिए कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं रह जाती।

जिन लोगों के पास सत्य का बल है उन्हें किसी अन्य वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती अर्थात् सत्य ही उनके लिए सर्वश्रेष्ठ संपत्ति होती है। सत्य की प्राप्ति के बाद संतोष की भावना का विकास होता है। उस समय नाशवान पदार्थों की ओर से उसका मन हट जाता है अर्थात् जिन लोगों ने सत्य को प्राप्त कर लिया, उन्हें अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। । 151 ।

॥ साहसेन न कार्यसिद्धिर्भवति ॥

केवल भौतिक शक्ति पर निर्भर रहने से कार्य सिद्ध नहीं होता।

साहस एक भौतिक शक्ति है। केवल भौतिक शक्ति पर आश्रित रहने मात्र से कार्य सिद्ध नहीं होता। उसके लिए अन्य बातों की भी आवश्यकता है। जिनमें सत्य, सूझबूझ और प्रभु पर विश्वास आदि अत्यन्त आवश्यक होती हैं। इन सब बातों से मनुष्य में जो साहस पैदा होता है उसी से कार्य सिद्ध होते हैं, मात्र भौतिक शक्ति के रूप में केवल वही कार्य सिद्ध हो सकते हैं जिनका शारीरिक शक्ति से संबंध हो। । 152 ।

॥ व्यसनार्तो विस्मरत्यप्रवेशेन ॥

व्यसनों में फंसा हुआ व्यक्ति किसी एक बात पर ध्यान न टिका पाने के कारण कर्तव्यविमुख हो जाता है।

व्यसन अर्थात् बुरी लत में पड़ा हुआ व्यक्ति अपने कर्तव्य को भूल जाता है। उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता है कि उसे क्या करना है। वह और सब बातें भूलकर अपने गलत काम में ही अपना समय बिता देता है। उसमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वह अपने कर्तव्य की ओर ध्यान दे अथवा उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करे। व्यसनों में फंसे हुए व्यक्तियों को इस बात का अहसास भी नहीं रहता कि उन्हें किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। व्यसन मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। एक बार व्यक्ति यदि किसी व्यसन के चंगुल में फंस जाता है तो उसके चक्कर से निकलना उसके लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है। । 153 ।

॥ नास्त्यनन्तरायः कालविक्षेपे ॥

काल का दुरुपयोग करने वाला व्यक्ति अपना जीवन निर्विघ्न होकर नहीं गुजार सकता। आलसी व्यक्ति का जीवन कठिनाइयों से घिरा रहता है।

जब मनुष्य समय का सदुपयोग नहीं करता तो उसे जीवन में अनेक बार हानि उठानी पड़ती है। समय के संबंध में वे सब जानते हैं कि जो समय बीत जाता है उसे फिर से वापस नहीं लौटाया जा सकता। इस प्रकार यदि समय का सदुपयोग नहीं किया गया तो वह व्यर्थ जाता है। मनुष्य के जीवन में एक-एक पल का महत्त्व है। इसीलिए उसका सदुपयोग मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। । 154 ।

॥ असंशयविनाशात् संशयविनाशः श्रेयान् ॥

इस सूत्र का भावार्थ यह है कि मनुष्य की मृत्यु अवश्यंभावी है। इसीलिए मनुष्य को संग्राम से विमुख होकर जीना उतना लाभदायक नहीं, जितना संग्राम करते हुए अनिश्चित मौत को गले लगाना।

संग्राम से बचने से मौत से बचा नहीं जा सकता। जिस अनिवार्य मौत से बचा ही नहीं जा सकता, उस मौत का विजयी मन से आह्वान करने से ही मानव-जीवन सफल होता है। मौत को व्यर्थ बना डालना, मृत्युंजय बनना कहलाता है। वास्तविक मृत्यु से कोई व्यक्ति नहीं बच सकता। यह संसार एक समर भूमि है। व्यक्ति का कार्य में लगे रहना और कार्य करते हुए संसार का कल्याण करना वास्तविक जीवन का ध्येय है अर्थात् मनुष्य को अपना कर्तव्य करने से कभी विमुख नहीं होना चाहिए। । 155 ।

॥ अपरधनानि निक्षेप्तुः केवलं स्वार्थम् ॥

दूसरे के धन को धरोहर रूप में रखनेवाला यदि धरोहर रखने के साथ स्वार्थभेद और दूसरों के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझता, तो वह निश्चित रूप में प्रत्येक समय अपना ही स्वार्थ खोजता रहेगा।

दूसरों की धरोहर रखनेवाले व्यक्ति को अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए और

उसमें अपने स्वार्थ को पूरा करने की बात नहीं सोचनी चाहिए। । 156 ।

॥ दानं धर्मः ॥

दान अर्थात् योग्य पात्र की सहायता करना मनुष्य का स्वहितकारी कर्तव्य है।

अनेक धर्मों अथवा संप्रदायों में यह नियम है कि व्यक्ति की जितनी आय हो उसका कुछ अंश उसे दान में अवश्य देना चाहिए। यही धर्म है। । 157 ।

॥ नार्यागतोऽर्थवद्विपरीतोऽनर्थभावः ॥

अनार्य अर्थात् अज्ञानी लोगों द्वारा समाज में व्यर्थ की बातों पर आचरण करने से मनुष्य का जीवन नष्ट हो जाता है अर्थात् अज्ञानी लोगों द्वारा प्रचलित की गई परंपराओं पर आचरण करने से मानव जीवन का अनर्थ होता है।

संसार में बहुत से ऐसे आचरण प्रचलित हो जाते हैं जिनसे मानव समाज की कोई भलाई नहीं होती, वरन् हानि होती है। समय नष्ट होने के अतिरिक्त इस प्रकार के आचरणों से समाज में अनेक ऐसी बातें फैलती हैं जिन्हें किसी भी कारण से समाज के लिए हितकारी नहीं कहा जा सकता। । 158 ।

॥ यो धर्मार्थौ न विवर्धयति स कामः ॥

जिससे धर्म और अर्थ दोनों की वृद्धि न हो, उसे काम कहते हैं।

अनेक स्थानों पर धर्म और अर्थ, काम और मोक्ष मनुष्य के लिए आवश्यक बताये गए हैं। यहां काम के संबंध में व्याख्या करते हुए चाणक्य कहते हैं कि जिससे धर्म और अर्थ दोनों की वृद्धि न होती हो, उसे काम कहते हैं। वस्तुतः मानवोचित काम, धर्म और अर्थ तथा नीति किसी को भी विचलित नहीं करता, ऐसे काम को स्वीकार किया जा सकता है अर्थात् काम वही है जो धर्म और अर्थ दोनों में से किसी को भी किसी प्रकार की हानि न पहुंचाये। । 159 ।

॥ तद्विपरीतोऽनर्थसेवी ॥

धर्मार्थ विरोधी काम से विपरीत कामना करनेवाला मानव अपने जीवन को व्यर्थ करता है, समाज में अशांति उत्पन्न करता है।

जो व्यक्ति धर्म और अर्थ की वृद्धि में रुकावट डालने वाले काम का दास बन जाता है, उसकी हानि होती है अर्थात् काम को धर्म और अर्थ का विरोधी नहीं होना चाहिए। । 160 ।

॥ ऋजुस्वभावो जनेषु दुर्लभः ॥

समाज में निष्कपट, सरल, सभ्य और बिना स्वार्थ के व्यवहार करनेवाले सरल व्यक्ति बहुत कम होते हैं।

संसार का कार्य-व्यवहार अधिकांश स्वार्थ से पूर्ण है। सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ से अधिक कार्य करता है। संसार में ऐसे लोगों का मिलना कठिन है जिन्हें किसी प्रकार का स्वार्थ न हो। सीधे और सरल व्यक्ति का मिलना इसीलिए दूभर हो जाता है कि सीधे सरल व्यक्ति को लोग मूर्ख समझते हैं। इसके अतिरिक्त उसे कमजोर भी माना जाता है।

। 161 ।

॥ अवमानेनागतमैश्वर्यमवमन्यते साधुः ॥

सज्जन पुरुष निकृष्ट उपायों से आनेवाली संपत्ति को स्वीकार नहीं करते।

सृष्टि के प्रारंभ से ही धन और ऐश्वर्य प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करता आ रहा है। इसके लिए व्यक्ति नीच-से-नीच कार्यों पर भी उतर आता है। लोगों की हत्याएं, चोरी, डकैती आदि नीच कर्म करता है, परंतु सज्जन व्यक्ति धन के संबंध में इस प्रकार के विचार नहीं रखते। वे धन-संग्रह को पुरुषार्थ से संबंधित मानते हैं। धर्म के अनुसार चलनेवाले व्यक्ति निकृष्ट कार्यों से धन इकट्ठा करना पाप समझते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि इससे केवल अपमान के अतिरिक्त वास्तविक सुख प्राप्त नहीं होगा। वास्तविक सुख धर्म और पुरुषार्थ से उत्पन्न किए गये धन से ही प्राप्त हो सकता है। । 162 ।

॥ बहूनपि गुणानेको दोषो ग्रसते ॥

मनुष्य में यदि कोई एक ही बड़ा दोष हो तो वह बहुत से गुणों को दोष में बदल देता है।

अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि बहुत से व्यक्तियों में अनेक गुण होते हैं। वे लोगों पर दया करते हैं, उनकी सहायता करते हैं, परंतु यदि उनमें कोई विशेष दोष होता है तो लोग उसके गुणों की उपेक्षा कर देते हैं। इसीलिए जहां तक हो सके, मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपनी समीक्षा करता रहे और अपनी कमी अथवा अपने दोष दूर करने का प्रयत्न करता रहे।

। 163 ।

॥ महात्मना परेण साहसं न कर्त्तव्यम् ॥

सत्य में आस्था रखनेवाले महात्माओं को महत्त्वपूर्ण कार्य दूसरों के भरोसे नहीं छोड़ना चाहिए। उन्हें वे कार्य स्वयं करने चाहिए।

दूसरों पर भरोसा करने वाला व्यक्ति प्रायः हानि उठाता है क्योंकि सत्य की रक्षा

करना बड़ा कठिन कार्य होता है। उसकी रक्षा दूसरे साथियों के भरोसे नहीं की जा सकती। इस प्रकार के कार्यों को दूसरे व्यक्तियों पर नहीं छोड़ना चाहिए। इसीलिए महत्त्वपूर्ण काम व्यक्ति को स्वयं ही करने चाहिए। । 164 ।

॥ कदाचिदपि चरित्रं न लंघयेत् ॥

कठिन-से-कठिन परिस्थितियां होने पर भी मनुष्य को अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत जो कोई भी ऐसा करता है, उसके हृदय में कांटे के समान यह बात चुभती रहती है।

मनुष्य को काम, क्रोध आदि के वश में होकर अपने मानवीय चरित्र की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। विषम परिस्थितियों में भी अपने चरित्र अर्थात् मानवीय कर्तव्य का त्याग नहीं करना चाहिए।

चाणक्य ने इस सूत्र में कहा है कि व्यक्ति को अपने चरित्र का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। चरित्र के संबंध में यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मनुष्य का वास्तविक चरित्र लोभ, लालच आदि से दूर रहना है। मनुष्य का चरित्र अर्थात् स्वभाव यह है कि वह कोई ऐसा कार्य न करे जिससे दूसरों को हानि पहुंचती हो। यदि वह ऐसा कार्य करता है तो यह बात जीवन भर उसके हृदय में कांटे की तरह चुभती रहेगी। । 165 ।

॥ क्षुधार्तो न तृणं चरति सिंहः ॥

सिंह भूखा होने पर भी घास नहीं खाता।

यह सूत्र भी ऊपर के सूत्र की बात की पुष्टि करता है। अर्थात् मनुष्य को अपना स्वभाव नहीं छोड़ना चाहिए। जिस प्रकार सिंह भूख से अत्यन्त व्याकुल होने पर भी मांस खाने के अपने स्वभाव को छोड़कर घास खाने पर विवश नहीं होता, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने चरित्र के महत्त्व को समझते हैं, वे अत्यंत कठिन समय में भी सत्य का परित्याग नहीं करते। सदैव चरित्रवान् बने रहते हैं।

प्रकृति ने संसार के सभी प्राणियों को विशिष्ट स्वभाव दिया है। अधिकांश प्राणी जीवन भर अपने स्वभाव पर दृढ़ रहते हैं, अर्थात् घास खाने वाले प्राणी कभी मांस की ओर देखना भी उचित नहीं समझते। परंतु मनुष्य का स्वभाव ऐसा है जिसे वह थोड़े से लालच, भय के वशीभूत हो उसे छोड़ने पर विवश हो जाता है। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सदैव सत्यनिष्ठ वास्तविक स्वभाव पर दृढ़ रहे। । 166 ।

॥ प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्यः ॥

प्रत्यय का अर्थ है विश्वास अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि वह अपने प्राणों को संकट में डालकर भी सज्जन व्यक्तियों के साथ सज्जनता रूपी अपनी विश्वासपात्रता की रक्षा करे।

चाणक्य कहते हैं कि भयंकर संकट पड़ने पर भी मनुष्य को अपने मूल्यों का परित्याग नहीं करना चाहिए। संक्षेप में मनुष्य को सज्जनों के साथ सज्जनता का व्यवहार करना चाहिए। सज्जनों के प्रति यह उसके विश्वास की बात है। । 167 ।

॥ पिशुनः श्रोता पुत्रदारैरपि त्यज्यते ॥

पिशुन अर्थात् विश्वासघाती व्यक्ति को उसके पुत्र, स्त्री आदि परिवार के लोग भी त्याग देते हैं।

सुनी हुई बातों के आधार पर लोगों में लड़ाई-झगड़े करानेवाले व्यक्ति को उसके परिवारवाले भी त्याग देते हैं। यदि उसे न त्यागें तो आपसी विपदा आने की आशंका बनी ही रहती है। चुगलखोरी एक प्रकार का मानसिक पाप होता है। विश्वासघाती का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं जिन्होंने राष्ट्र के साथ विश्वासघात किया। सहस्रों वर्षों के बाद भी उनका नाम घृणा से लिया जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति विश्वासघात करता है वह सदा के लिए बदनाम हो जाता है। । 168 ।

॥ बालादप्यर्थजातं शृणुयात् ॥

यदि कोई बच्चा भी उपयोगी बात कहता है तो उसे सुनना चाहिए। अर्थात् मनुष्य को किसी भी महत्त्वपूर्ण बात की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, भले ही उस बात को कहनेवाला व्यक्ति कितना ही सामान्य और तुच्छ क्यों न हो।

जिस प्रकार कीचड़ में पड़े हुए रत्न को भी उठा लेना चाहिए, उसी प्रकार यदि कोई साधारण व्यक्ति कोई उपयोगी बात कहता है तो उसे ग्रहण कर लेने में संकोच नहीं करना चाहिए। बहुत से व्यक्ति देखने में बड़े सामान्य और उपेक्षित-से दिखाई देते हैं परंतु वह कई बार ऐसी कोई बात कह देते हैं जो बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। उस बात को सुनना और अमल करना बुरा नहीं है। इस प्रकार की बातों से कई बार मानव-जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के उदाहरण देखे गए हैं, इसलिए कहीं से भी उपयोगी बात को ग्रहण करने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए। । 169 ।

॥ सत्यमप्यश्रद्धेयं न वदेत् ॥

जिस व्यक्ति की सत्य में श्रद्धा न हो, उस व्यक्ति को सत्य के संबंध में कुछ कहना व्यर्थ है। चाणक्य कहते हैं कि जिसे सत्य अप्रिय लगता हो, उससे सत्य कहकर सत्य का अपमान मत करवाओ।

सत्य बात सुनना काफी कठिन होता है। यदि सत्य कठोर हो तो उसे सुनना और सहन करना उससे भी कठिन कार्य है। परंतु इसके साथ ही सच्ची बात कहनेवाले व्यक्ति भी

दुर्लभ होते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर कोई कार्य करता या बात कहता है।? | 170 |

॥ नाल्पदोषाद् बहुगुणास्त्यज्यन्ते ॥

किसी के साधारण दोष देखकर उसके महत्त्वपूर्ण गुणों को अस्वीकार नहीं करना चाहिए।

यदि सच्चे गुणी मनुष्य का कोई व्यवहार दूषित लगता हो या न हो, तो यह निश्चित है कि यह गुणों के चरित्र को न समझने का दोष है, जब उस पर शांत काल में निरपेक्ष रूप से विचार होगा, तो स्पष्ट रूप से समझ में आ जाएगा कि वास्तव में उसका दोष नहीं है।

संक्षेप में इस सूत्र का अर्थ यह है कि किसी व्यक्ति के मूल्य का आकलन उसके संपूर्ण आचरण को देखकर ही करना चाहिए। | 171 |

॥ विपश्चित्स्वपि सुलभा दोषाः ॥

सामान्य रूप से ज्ञानी व्यक्तियों के व्यवहार में भी दोष निकाले जा सकते हैं अर्थात् यदि दोष निकालने की दृष्टि से उनके व्यवहार को देखा जाए तो दोष निकालना कठिन काम नहीं।

अनेक स्थानों पर चाणक्य ने यह बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक कुल में कहीं-न-कहीं दोष जरूर होता है। परंतु सज्जनों, विद्वानों और ज्ञानी व्यक्तियों के व्यवहार में इस तरह के दोष को महत्त्व नहीं देना चाहिए। उसकी ओर ध्यान देने से दुष्ट व्यक्तियों को भले ही प्रसन्नता हो सकती है परन्तु सज्जनों को इससे कोई हानि नहीं होती। इसीलिए निंदा करने वाले व्यक्ति विद्वान् लोगों में भी दोष ढूंढते रहते हैं। | 172 |

॥ नास्ति रत्नमखण्डितम् ॥

जिस प्रकार प्रत्येक रत्न में किसी-न-किसी प्रकार की त्रुटि निकाली जा सकती है, जैसे श्रेष्ठ मणि भी सर्वदा निर्दोष नहीं होती, इसी प्रकार विद्वानों में भी इंद्रियों से संबंधित भूलें अथवा दोष पकड़े जा सकते हैं।

इसका भावार्थ यह है कि विद्वान् की निंदा करना निंदक व्यक्ति का एक प्रकार से अपराध होता है। जिस प्रकार किसी भी रत्न में पहले दोष निकालने के बाद उसको दोषरहित और वास्तविक सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार विद्वानों पर भी किसी-न-किसी प्रकार के दोष मढ़े जा सकते हैं।

परंतु अंत में वही दोष उन्हें निर्दोष सिद्ध करनेवाले बन जाते हैं अर्थात् विद्वानों की निंदा करना अपने अज्ञान का परिचय देना है, जिस प्रकार पहले किसी रत्न को कृत्रिम

बताया जाए और बाद में उसे असली करार दिया जाए। । 173 ।

॥ मर्यादातीतं न कदाचिदपि विश्वसेत् ॥

जो व्यक्ति सामाजिक नियमों अर्थात् मर्यादाओं का उल्लंघन करते हैं उनका कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

प्रत्येक समाज के कुछ नियम होते हैं। समाज उन नियमों के सहारे जीवित रहता है। यह एक प्रकार की मर्यादाएं होती हैं जिन्हें समाज का कोई व्यक्ति भंग करने का प्रयत्न नहीं करता परंतु जो व्यक्ति ऐसा करते हैं वे समाज के विपरीत चलने वाले होते हैं।

चाणक्य का कहना है कि ऐसे व्यक्तियों का कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों पर विश्वास करने से समाज में विरोधी भावनाएं पैदा होती हैं और सामाजिक बंधनों के नष्ट होने का भय स्पष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति सामाजिक मर्यादाओं को भंग करता है, उस पर विश्वास करना मूर्खता है। । 174 ।

॥ अप्रिये कृतं प्रियमपि द्वेष्यं भवति ॥

शत्रु द्वारा ऐसा व्यवहार जो देखने में हितकारी प्रतीत हो, उसे दूध से भरे बर्तन के मुख पर लगे विष के समान ही मानना चाहिए।

शत्रु कई बार विरोधी राष्ट्र को बहकावे में डालने के लिए इस प्रकार का व्यवहार करने लगता है जो देखने में बहुत अच्छा लगता है। परंतु इस व्यवहार पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

भारतीयों ने इस प्रकार के व्यवहार का फल चखा है। चाऊ एन लाई के समय भारत में भाई-भाई का नारा लगाया गया था। भारतीय अधिकारियों ने उस नारे में छिपी हुई दुष्ट भावना को नहीं समझा। वह भावना तभी स्पष्ट हुई जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया। इसीलिए चाणक्य कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति की बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए जो विश्वास करने योग्य न हो। । 175 ।

॥ न मन्त्यपि तुलाकोटिः कूपोदकक्षयं करोति ॥

जो व्यक्ति कपटपूर्ण नम्रता का व्यवहार करता है उसका विश्वास उसी प्रकार नहीं करना चाहिए जिस प्रकार ढेंकली नीचे को सिर झुकाकर कुएं में घुसती है और उसका पानी निकाल लाती है। उसी प्रकार स्वार्थी लोगों के दिखावटी नम्रतापूर्ण व्यवहार पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

चाणक्य ने कुएं में से पानी निकालने वाली ढेंकली का बहुत ही विचित्र और उपयुक्त उदाहरण दिया है। किसी कुएं में से जब ढेंकली द्वारा पानी निकाला जाता है तो जिस भाग में

ढेंकली बंधी होती है उसे नीचे झुकाकर कुएं में डाला जाता है।

इस प्रकार ढेंकली सिर झुकाकर कुएं में घुसती है, परंतु धीरे-धीरे पानी निकालकर उसे खाली कर देती है। इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य नम्रतापूर्ण बात हानि पहुंचाने के लिए ही करते हैं। । 176 ।

॥ सतां मतं नातिक्रमेत् ॥

सज्जन पुरुष जो निर्णय लेते हैं उसके विरुद्ध कार्य करना उचित नहीं अर्थात् सत्पुरुषों के निर्णय के विरुद्ध चलना मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं।

मनुष्य अपने विवेक से अपने कर्त्तव्य का निश्चय करता है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के संबंध में जब कोई समस्या उत्पन्न होती है तो उसके करने या न करने में उसका अपना विवेक ही सहायक होता है। परंतु जब मनुष्य कोई निश्चय न कर पाए तो उसे यह देखना चाहिए कि सज्जन पुरुष अथवा विद्वान् पुरुषों ने ऐसी स्थिति में क्या निर्णय लिए। तब उस निर्णय के अनुसार काम करना चाहिए।

उस समय उसका कर्त्तव्य होता है कि वह सज्जनों द्वारा उन सीमाओं में रहे जो उन्होंने निश्चित की हैं। उनके द्वारा निर्धारित सीमाओं से बाहर जाना और उनका उल्लंघन करना उचित नहीं। । 177 ।

॥ गुणवदाश्रयान्निर्गुणोऽपि गुणी भवति ॥

गुणवान् मनुष्य का आश्रय लेने से अथवा उसके पास रहने से गुणहीन व्यक्ति भी गुणी हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति को इस संसार में सभी बातों का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु का आश्रय लेना होता है। परंतु गुरु हर समय किसी व्यक्ति के साथ नहीं रह सकता। उसका कर्त्तव्य उसे ज्ञान देना है, परंतु सांसारिक समस्या के संबंध में जो भी निर्णय लेने होते हैं, उनका आधार सत्संग होता है अर्थात् व्यक्ति अनुभवी पुरुषों के साथ रहकर विवेक-बुद्धि अर्जित कर लेता है और उनके अनुसार सांसारिक समस्याएं हल करने में सुविधा होती है। अनुभवी पुरुषों के सत्संग से मनुष्य के विवेक में वृद्धि होती है। । 178 ।

॥ क्षीराश्रितं जलं क्षीरमेव भवति ॥

दूध में मिला हुआ जल भी दूध ही बन जाता है अर्थात् दूध में मिले हुए पानी को भी लोग दूध ही मानते हैं। इसी प्रकार गुणी व्यक्ति के संसर्ग में रहने वाला व्यक्ति गुणी बन जाता है।

शराब बेचने वाला व्यक्ति शराब के बर्तन में दूध भरकर रखने का प्रयत्न करेगा तो

लोग उसे शराब ही समझेंगे। इसी प्रकार जो व्यक्ति दुष्ट और निर्गुणी व्यक्तियों का संग करता है उसे दुर्गुणी माना जाता है, जो व्यक्ति सज्जनों का सत्संग करता है, वह गुणहीन होने पर भी गुणी मान लिया जाता है। । 179 ।

॥ मृत्पिण्डोऽपि पाटलिगन्धमुत्पादयति ॥

जिस प्रकार बिना गंध वाली मिट्टी में फूलों के संसर्ग से उसमें गंध आ जाती है, इसी प्रकार स्वभाव से जो व्यक्ति गुण ग्रहण करने की इच्छा रखता है वह सद्गुणों से संपन्न व्यक्ति के संपर्क में आकर उससे अच्छे गुण ग्रहण कर लेता है।

मिट्टी में अपनी एक विशेष गंध होती है, परंतु जिन क्यारियों में विशेष सुगंधित फूल उगाए जाते हैं, उन फूलों के संसर्ग के कारण उस मिट्टी में भी एक विशेष प्रकार की गंध पैदा हो जाती है। वन में सुगंधित पुष्पों से लदा हुआ एक वृक्ष सारे वन को अपनी सुगंध से महका देने में समर्थ होता है। उसी प्रकार सद्गुणी और विद्वान् व्यक्ति के संपर्क से ही मनुष्य सद्गुणी बन सकता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं। । 180 ।

॥ रजतं कनकसंगात् कनकं भवति ॥

जैसे चांदी सोने के साथ मिलने पर सोना बन जाती है, चांदी नहीं रहती। इसी प्रकार निर्गुणी व्यक्ति गुणवान् व्यक्ति के पास रहकर गुणी बन जाता है।

आभूषण बनाते समय सोने में चांदी का मिश्रण किया जाता है। चांदी के मिश्रण से सोने में कुछ कठोरता आ जाती है परंतु सोने में मिली हुई चांदी को सोना ही समझा जाता है। चांदी का अपना रूप समाप्त हो जाता है। इस सूत्र में भी चाणक्य ने सज्जन पुरुषों के साथ सत्संग से होने वाले लाभ के संबंध में लिखा है। । 181 ।

॥ उपकर्तर्यपकर्तुमिच्छत्यबधुः ॥

बुद्धिहीन क्रूर व्यक्ति विवेकहीनता के कारण अपना हित करनेवाले को भी हानि पहुंचाकर अपनी स्वार्थसिद्धि करने से पीछे नहीं हटता।

दुष्ट व्यक्ति अपने नीच स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। वह अपना उपकार करनेवाले व्यक्ति को भी हानि पहुंचाने से भय नहीं खाता। जिस प्रकार जल का स्वभाव नीचे को गिरना है, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति भी अपना दुष्ट स्वभाव नहीं छोड़ता। उसका स्वभाव सज्जनों का अहित करना होता है। वह उनसे लाभ उठाने के बावजूद उनका अहित करने में हिचकिचाहट अनुभव नहीं करता। । 182 ।

॥ न पापकर्मणामाक्रोशभयम् ॥

दुष्ट, पापी व्यक्तियों को अपने निकृष्ट कर्मों के कारण निंदा से भी भय प्रतीत नहीं होता। पाप करने वाला व्यक्ति लज्जारहित हो जाता है। उसे इस बात का भय नहीं रहता कि उसके

पाप कर्मों के कारण समाज में उसकी निंदा होगी। निंदा से भय अनुभव न करने के कारण वह पाप कर्मों से छुटकारा नहीं पा सकता और अपना सारा जीवन एक निर्लज्ज व्यक्ति के समान अपमान सहते हुए बिता देता है। । 183 ।

॥ उत्साहवतां शत्रवोऽपि वशीभवन्ति ॥

जो व्यक्ति उत्साही होते हैं वे अपने अति शत्रु को भी वश में कर सकते हैं।

उत्साही व्यक्ति के लिए इस संसार में कोई भी कार्य ऐसा नहीं जो वह कर न सके। उत्साही व्यक्तियों ने संसार में असंभव कार्यों को कर दिखाया। सिकंदर और चंगेज खां जैसे छोटे-छोटे उत्साही राजाओं ने संसार में ऐसे विशाल भूभाग पर कब्जा किया जिसके संबंध में विचार करने से आज भी आश्चर्य होता है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य के हृदय में रहनेवाली पापवासनाएं मनुष्य की शत्रु होती हैं। मनुष्य अपने उत्साह से उन पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। जिस व्यक्ति में कुछ करके दिखाने की हिम्मत होती है, वही संसार में सफल होता है। । 184 ।

॥ विक्रमधना राजानः ॥

राजा का सबसे बड़ा धन विक्रम ही होता है। जो राजा विक्रमी अर्थात् वीर नहीं, उसके लिए संसार में यश प्राप्त करना कठिन है।

राजधर्म चलाने के लिए राजा के लिए आवश्यक है कि वह विक्रम और शूर-वीर हो। शूरवीरता उसका विशेष गुण माना जाता है। जो राजा आलसी और डरपोक होते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। उनके लिए अपने राज्य की रक्षा करना भी कठिन होता है। धन-धान्य और समृद्धि के साथ-साथ राजा का शूरवीर, बलवान् और विक्रमी होना आवश्यक है। उसे इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि डरपोक आदमी अपने जीवन में अनेक बार मरता है परंतु शूरवीर व्यक्ति जीवन में अपने यश के बाद केवल एक बार ही मृत्यु को प्राप्त होता है। । 185 ।

॥ नास्त्यलसस्यैहिकामुष्मिकम् ॥

आलस्य के कारण व्यक्ति का विनाश हो जाता है।

जिस व्यक्ति को अपने कार्य में किसी प्रकार का उत्साह नहीं होता, वह मूर्ख तो होता ही है परंतु उसे अपने आलस्य के कारण वर्तमान और भविष्य से संबंधित किसी कार्य में

सफलता भी नहीं प्राप्त होती। सफलता का अर्थ यह है कि जो व्यक्ति वर्तमान में सफल है वह अपने उत्साह के कारण भविष्य में भी सफल होने की आशा कर सकता है अर्थात् जिस व्यक्ति ने अपने उत्साह के कारण वर्तमान को सुरक्षित बना लिया है उसके भावी कार्य भी अवश्य सफल होने की संभावनाओं से पूर्ण होते हैं। आलसी व्यक्ति जीवन में पराजय का ही मुख देखता है। । 186 ।

॥ निरुत्साहाद्दैवं पतति ॥

जिन कार्यों में व्यक्ति निश्चित रूप से सफल हो सकता है यदि वह उनमें भी उत्साह से काम नहीं लेगा तो उसे सफलता प्राप्त नहीं होगी।

भाग्य का सहारा तो कायर पुरुष लेते हैं। उत्साही अपने उत्साह से उन कार्यों को भी सिद्ध कर लेते हैं जिनकी सफलता में उन्हें संदेह होता है, परंतु आलसी व्यक्ति उस कार्य में असफल रह जाते हैं जिनमें भाग्य के कारण सफलता प्राप्त होने की संभावना हो सकती थी। । 187 ।

॥ मात्स्यार्थिव मत्स्यार्थिवज्) जलमुपयुत्यार्थं गृह्णीयात् ॥

पुरुषार्थी व्यक्ति को संकट से लड़ना होता है। जिस प्रकार मछली को पकड़ने की इच्छा रखनेवाले मछरे को जल में घुसने का संकट मोल लेना ही पड़ता है।

जिस प्रकार मछेरा जल में प्रवेश के संकट का सामना कर मछली पकड़ता है, उसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य भी संकट में कूदकर सफलता रूपी अपने दैव को विघ्नों से बचाकर सुरक्षित रखता है, अपना काम बनाता है। । 188 ।

॥ अविश्वस्तेषु विश्वासो न कर्त्तव्यः ॥

जिन लोगों के संबंध में किसी प्रकार का परीक्षण न किया गया हो, उन लोगों पर विश्वास करना मूर्खता है अर्थात् अपात्र व्यक्तियों पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

राजा के अतिरिक्त सामान्य व्यक्तियों को भी अपने जीवन में बहुत सोच-समझकर विश्वासपात्र व्यक्तियों को चुनना चाहिए। जो व्यक्ति विश्वास के योग्य न हो उन्हें कभी भी अपना साथी नहीं बनाना चाहिए। अपात्र व्यक्ति पर विश्वास करने से व्यक्ति को हानि होती है। । 189 ।

॥ विषं विषमेव सर्वकालम् ॥

विष सदा विष ही रहता है। वह कभी अमृत नहीं बन सकता अर्थात् विष का स्वभाव नहीं बदलता।

प्राणियों के लिए अपना स्वभाव छोड़ना कठिन होता है। जिस प्रकार विष सदैव विष ही रहता है उसी प्रकार अविश्वासी व्यक्ति भी अपने स्वभाव के अनुसार कभी भी विश्वास का पात्र नहीं बन सकता। विष को यदि अमृत-कलश में रख दिया जाए तो भी वह अमृत नहीं बन सकता, इसी प्रकार दुष्ट व्यक्तियों के लिए अपना स्वभाव बदलना कठिन होता है। मनुष्यों को अपने जीवन में सफलता पाने के लिए अविश्वासी व्यक्तियों से दूर रहना चाहिए। । 190 ।

॥ अर्थसमादाने वैरिणां संग एव न कर्त्तव्यः ॥

अपने कार्यों को सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने शत्रुओं से किसी भी प्रकार की सहायता न ले और न उनसे किसी प्रकार का संपर्क रखे।

मनुष्य को किसी कार्य को पूर्ण करने और उससे धन-प्राप्ति की इच्छा रखते समय अपने शत्रुओं से सतर्क रहना चाहिए, उनसे अपने कार्यों के संबंध में न तो किसी प्रकार का परामर्श लेना चाहिए और न किसी प्रकार का उनसे संपर्क रखना चाहिए। क्योंकि ऊपर बताया गया है कि जैसे विष अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार शत्रु भी आपको हानि पहुंचाने से अपने आप को नहीं रोक पाएगा। । 191 ।

॥ अर्थसिद्धौ वैरिणं न विश्वसेत् ॥

अपने उद्देश्य की पूर्ति के संबंध में शत्रु पर किसी प्रकार का विश्वास नहीं करना चाहिए।

जब मनुष्य अपने किसी कार्य को सिद्ध करने में लगा रहता है तो अनेक व्यक्ति उसमें कठिनाइयां उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। उनका उद्देश्य व्यक्ति को अपना कार्य सिद्ध करने से अलग करना होता है। वास्तव में कुछ लोगों का स्वभाव होता है कि जब वे किसी व्यक्ति को अपने लक्ष्य तक पहुंचते देखते हैं तो उसे अपने मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं। यह कार्य शत्रुओं का होता है, मित्रों का नहीं। मित्र तो उद्देश्य की पूर्ति में सहायक ही होते हैं। । 192 ।

॥ अर्थाधीन एव नियतसम्बन्धः ॥

लोगों के संबंधों का आधार अपने उद्देश्य की पूर्ति के आधार पर होता है।

देखने में आता है कि मनुष्य अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही किसी दूसरे व्यक्ति से संबंध स्थापित करता है अर्थात् संबंधों का आधार व्यक्ति का अपने उद्देश्य की पूर्ति होता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि संबंध स्वार्थ पर आधारित होते हैं। निःस्वार्थ संबंध रखनेवाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। अपने उद्देश्य के प्रति स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण होना एक सांसारिक व्यवहार है परंतु अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी दूसरे को हानि पहुंचाना

अत्यन्त निंदनीय कार्य है। इस सूत्र का दूसरा अर्थ सामान्य रूप से यह भी हो सकता है कि व्यक्ति धन को ही दृष्टि में रखकर अपने संबंध स्थापित करता है। देखने में आता है कि जब तक मनुष्य के पास धन रहता है तो वह सगे-संबंधियों और मित्रों से घिरा रहता है परंतु जब उसका धन नष्ट हो जाता है तो मित्र तो क्या उसके पुत्र और उसकी स्त्री भी उसका साथ छोड़ जाते हैं। । 193 ।

॥ शत्रोरपिसुतस्सखा रक्षितव्यः ॥

शत्रु का पुत्र भी यदि मित्र हो तो उसकी रक्षा करना व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है।

बुद्धिमान राजा का कर्त्तव्य है कि यदि शत्रु का पुत्र मित्र बन जाए तो उसकी रक्षा का हर समय प्रयास करना चाहिए।

इस संसार में मनुष्यों के सम्बन्ध अथवा मित्रता उद्देश्य की एकता के कारण होती है। जिनके लक्ष्य एक जैसे होते हैं, वे आपस में एक-दूसरे के मित्र बन जाते हैं। वास्तविक शत्रु वही होता है जो दुष्ट स्वभाव का होता है और सत्य से द्वेष करने वाला होता है। सत्य के आधार पर विजय प्राप्त करना ही विद्वान् व्यक्तियों का ध्येय होता है। जो व्यक्ति सत्य का विरोध करते हैं वे असत्य के दास होते हैं। उद्देश्य में विरोध के कारण ही लोगों में शत्रुता पैदा होती है। ऐसे में पुत्र अपने पिता जैसा सत्य का शत्रु न होकर असत्य का शत्रु भी हो सकता है। । 194 ।

॥ यावच्छत्रोच्छिद्रं पश्यति तावद्धस्तेन वा स्कन्धेन वा वाह्यः

॥

शत्रु की जिस कमजोरी पर प्रहार करके उसे नष्ट करने का विचार हो तो उससे दिखावटी मित्रता रखनी चाहिए अर्थात् अपने शत्रु को मित्रता का प्रदर्शन करके उसे धोखे में डालने का समय तलाश करते रहना चाहिए।

शत्रु की उस निर्बलता पर प्रहार करने तथा नष्ट करने तक उसे कृत्रिम मान तथा कृत्रिम मित्रता के प्रदर्शनों से सदा धोखे में रखना चाहिए। शत्रु को मित्रता के धोखे में डालकर परास्त करना चाहिए। । 195 ।

॥ शत्रु छिद्रे परिहरेत् ॥

शत्रु की दुर्बलता देखकर उसे अपनी सहायता से वंचित कर दो। अर्थात् शत्रु की कमजोरी देखकर ही उस पर प्रहार करना चाहिए।

अपने शत्रु पर विजय चाहनेवाले राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने शत्रु की दुर्बलता का पता चलने पर, उसकी दुर्बलता से ही उसे समाप्त करने का प्रयत्न करे अर्थात् यदि कोई

राजा व्यसनी हो, जुए अथवा मद्य और विषयभोग में लिप्त होनेवाला हो तो उसे व्यसनों में फंसाकर ही उसे नष्ट कर देना चाहिए। । 196 ।

॥ आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् ॥

शत्रु को अपनी दुर्बलताओं का परिचय नहीं देना चाहिए अर्थात् ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि अपनी दुर्बलताएं शत्रु पर प्रकट न हों।

इस सूत्र का अर्थ यह है कि चतुर राजा अपने शत्रु के सामने सदैव अपने आपको बलवान् प्रदर्शित करता रहे, अपनी दुर्बलता का पता न लगने दे। । 197 ।

॥ छिद्रप्रहारिणश्शत्रवः ॥

शत्रु के स्वभाव को पहचानकर उसकी निर्बलता पर ही आक्रमण करना चाहिए।

राजा अपने शत्रु की निर्बलता को पहचानकर ही उस पर आक्रमण करते हैं। वे सदैव अपने आपको शत्रु की दृष्टि में बलवान् सिद्ध करते रहते हैं। यदि शत्रु को अपने विरोधी की निर्बलता का पता चल जाता है तो वह आक्रमण करता है। इस प्रकार प्रहार करनेवाला राजा शत्रु को नष्ट कर देता है। बुद्धिमान राजा को चाहिए कि वह अपने विरोधी की दुर्बलता को जानने का प्रयत्न करे। । 198 ।

॥ हस्तगतमपि शत्रुं न विश्वसेत् ॥

विजय चाहनेवाले राजा का कर्तव्य है कि अपने वश में आए हुए शत्रु पर कभी विश्वास न करे।

हो सकता है कि अधिकार में आने पर शत्रु मित्रता का प्रदर्शन करे, परंतु राजा का कर्तव्य है कि सदैव सतर्क रहे और शत्रु पर कभी विश्वास न करे। यदि शत्रु को किसी कारण से क्षमा भी कर दिया जाए तो भी कभी उसे अपनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जो राजा ऐसा करते हैं उन्हें धोखा होता है। शत्रु उन पर आक्रमण कर देता है और वे विनाश से बच नहीं पाते। । 199 ।

॥ स्वजनस्य दुर्वृत्तं निवारयेत् ॥

सदैव विजय चाहनेवाले राजा का कर्तव्य है कि वह अपने पक्ष के लोगों के पापाचार पूर्ण आचरण को उपायों द्वारा दूर करने का प्रयत्न करे।

बुद्धिमान राजा का कर्तव्य है कि वह अपने पक्ष के अधिकारियों तथा संबद्ध व्यक्तियों में किसी प्रकार के पापाचारपूर्ण कार्यों को देखे तो उसे समाप्त करने का प्रयत्न करे। यह इसलिए आवश्यक है कि शत्रु राजा इस प्रकार के लोगों को अपने पक्ष में फांसकर

स्वार्थ सिद्धि कर सकते हैं। इसीलिए विजय चाहनेवाले राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने पक्ष की सत्य-निष्ठा को स्थिर रखने के लिए अपने लोगों की दुर्बलताओं को दूर करने का प्रयत्न करे। । 200 ।

॥ स्वजनावमानोऽपि मनस्विनां दुःखमावहति ॥

यदि अपने पक्ष के लोग दुश्चरित्र हों तो इसके कारण अपमान होता है और विचारशील व्यक्तियों को इससे दुःख होता है।

अपने पक्ष के लोग (भाई-बान्धव या रिश्तेदार आदि या राजा हो तो मित्रवत् राज्याधिकारी) यदि दुश्चरित्र हों तो वह कभी-न-कभी और अक्सर ऐसे कार्य करते रहते हैं, जिनसे व्यक्ति को दूसरों के सामने अपमानित होना पड़ता है। अतः उनको संमार्ग पर लाकर सुधारने का प्रयत्न सज्जन पुरुष को करना चाहिए। । 201 ।

॥ एकांगदोषः पुरुषमवसादयति ॥

जैसे मनुष्य के शरीर के किसी अंग में कोई कष्ट हो तो पूरे शरीर को उसकी पीड़ा अनुभव होती है। एक दूषित अंग के कारण सारा शरीर रोगी दिखाई देता है। इसी प्रकार किसी राज्य-संस्था या किसी दल के एक व्यक्ति में यदि दुराचार रूपी कष्ट दिखाई देता है तो इससे सारे दल अथवा शासन-व्यवस्था को हानि पहुंचती है। । 202 ।

॥ शत्रुं जयति सुवृत्तता ॥

सदाचार द्वारा ही शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

अच्छे आचरण (सदाचार) से शत्रु पर विजयी होना सरल हो जाता है। यहां सदाचार का अर्थ यह है कि व्यक्ति अपना सम्मान स्थिर रखते हुए दूसरे के सम्मान को स्थिर रखे। राज्य से संबंधित प्रत्येक विभाग की आचार संहिता होती है। उसका पालन करना भी आवश्यक होता है।

इससे स्वदेश का मान-सम्मान और स्वाभिमान स्थिर रहता है। इसके विपरीत आचार संहिता के उल्लंघन से अपनी हानि होती है, शत्रु की नहीं। इसलिए आचार संहिता का पालन करना शत्रु पर विजय प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन है। । 203 ।

॥ निकृतिप्रिया नीचाः ॥

नीच प्रकृति के लोग सज्जनों के साथ कपटपूर्ण व्यवहार करते हैं।

नीच व्यक्ति का यह स्वभाव होता है कि वह सभी स्थानों पर अपनी नीचता का प्रदर्शन करता है। उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सज्जन व्यक्तियों के साथ

सज्जनतापूर्ण व्यवहार करेगा। दुष्ट व्यक्ति के लिए सभी व्यक्ति एक समान होते हैं। वे सज्जन और दुर्जन में भेद नहीं कर पाते।

अपने स्वभाव के अनुकूल वह सज्जन व्यक्तियों से भी धोखे से भरा व्यवहार करता है। उसका व्यवहार सदैव कपटपूर्ण होता है। । 204 ।

॥ नीचस्य मतिर्न दातव्या ॥

नीच व्यक्ति के स्वभाव के संबंध में चाणक्य कहते हैं कि उसे सन्मति प्रदान करना उचित नहीं, क्योंकि उसके लिए अपना स्वभाव छोड़ना कठिन होता है।

दुष्ट व्यक्ति को समझाना अथवा उसे उपदेश देकर धर्म के मार्ग में लाना व्यर्थ होता है। जिस प्रकार पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है, उसी तरह नीच व्यक्ति भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता। दुष्ट अथवा नीच मनुष्य को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि किस कार्य से व्यक्ति का मानसिक विकास होता है। जब वह इस मूल बात को ही नहीं समझता तो उसे समझाने की बात करना ही व्यर्थ है। । 205 ।

॥ तेषु विश्वासो न कर्त्तव्यः ॥

दुष्ट व्यक्ति का विश्वास भी नहीं करना चाहिए।

जो व्यक्ति क्रूर, ठग और नीच है उसका विश्वास करने से हानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। नीच लोगों का कर्त्तव्य ही लोगों को ठगना और उन्हें सन्मार्ग से विचलित करना होता है। इसीलिए उनसे सदैव दूरी बनाए रखना चाहिए। । 206 ।

॥ सुपूजितोऽपि दुर्जनः पीडयत्येव ॥

दुष्ट व्यक्ति से यदि उदारतापूर्ण व्यवहार किया जाए तो भी वह समय पाते ही हानि करने से नहीं चूकता।

दुष्ट व्यक्ति से यदि सोच-समझकर अथवा अनजाने में भी अच्छा व्यवहार किया जाए और उदारता दिखाई जाए तो भी वह अवसर पाते ही दूसरों का बुरा करने से नहीं चूकेगा। । 207 ।

॥ चन्दनादीनपि दावाग्निर्दहत्येव ॥

चंदन की शीतलता और उसकी सुगंध आदि गुणों का ज्ञान न करके वन में लगी हुई आग दूसरे वृक्षों के साथ उसे भी जला डालती है।

जंगल में जब आग लगती है तो सभी वृक्ष उसमें जलकर राख हो जाते हैं। वह चंदन

हो या अन्य वृक्ष। इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य किसी को नहीं बख्शता। । 208 ।

॥ कदापि पुरुषं नावमन्येत् ॥

किसी भी पुरुष का कभी अपमान नहीं करना चाहिए।

जो व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का अपमान करता है, वास्तव में वह अपनी ही हीनता का प्रदर्शन करता है। उससे यही प्रतीत होता है कि वह किस श्रेणी का पुरुष है। सज्जन लोग प्रत्येक व्यक्ति को वैसा ही समझते हैं और उससे उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं जैसा वे अपने साथ किया जाना उचित मानते हैं। इसलिए व्यक्ति को सदैव दूसरों से व्यवहार करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति आपका अपमान करता है तो आपको कैसा प्रतीत होगा। ऐसा सोचने वाले व्यक्ति कभी किसी का अपमान नहीं करते। । 209 ।

॥ क्षन्तव्यमिति पुरुषं न बाधेत् ॥

क्षमा करना मनुष्य का धर्म है। इस बात को ध्यान में रखकर जो व्यक्ति क्षमा के योग्य हैं, उन्हें कभी कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए। । 210 ।

॥ भर्त्राधिकं रहस्युक्तं वक्तुमिच्छन्त्यबुद्धयः ॥

राजा द्वारा एकांत में राजकीय रहस्यों पर किये गये विचार को बुद्धिहीन मनुष्य प्रकट कर देना चाहते हैं।

इसका भाव यह है कि मूर्ख मनुष्य को ऐसी सभा में नहीं बुलाना चाहिए जिसमें राजकीय कार्य से महत्त्वपूर्ण मामलों पर विचार किया जाता हो। । 211 ।

॥ अनुरागस्तु फलेन सूच्यते ॥

किसी से प्रेम अथवा अनुराग का मौखिक सहानुभूति से पता नहीं चलता। इसकी वास्तविकता उसके फल से प्रकट होती है।

मौखिक सहानुभूति दिखाने वाले लोग तो बहुत से मिल जाएंगे परंतु आपके कर्म से सहानुभूति रखनेवाले व्यक्तियों का प्रेम कर्मफल से जुड़ा होता है। मनुष्य का प्रेम इस बात से भी प्रकट होता है कि वह मनुष्य की कितनी सफलता चाहता है। बहुत से व्यक्तियों का स्वभाव होता है कि वे किसी व्यक्ति को अपने जीवन में सफल देख उससे ईर्ष्या करने लगते हैं परंतु वास्तविक प्रेम अथवा अनुराग वही है जो मनुष्य की सफलता से दूसरे व्यक्तियों को भी प्रसन्नता अनुभव हो। । 212 ।

॥ प्रज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥

बुद्धि का ही फल ऐश्वर्य है। संसार में बुद्धिमान मनुष्य को ही सुख की प्राप्ति होती है। वस्तुतः बुद्धिमान व्यक्ति को ही संसार में श्रेष्ठ और बलवान् माना जाता है। शरीर से बलवान् होना प्रायः उतना लाभदायक नहीं होता जितना बुद्धिमान होना। संसार के सभी प्राणी खान-पान, सोने, उठने, बैठने में एक समान हैं परंतु मनुष्य की बुद्धि ही उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है और उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करती है। बुद्धिमान व्यक्ति की ही इस संसार में पूजा होती है। उसे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। । 213 ।

॥ दातव्यमपिबालिशः क्लेशेन परिदास्यति ॥

मूर्ख व्यक्ति दूसरों को दी जाने वाली वस्तु को देने में भी दुःख अनुभव करता है।

संसार में अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जो प्रकृति द्वारा मनुष्य को बिना किसी भेद-भाव के प्रदान की गई हैं। बुद्धिमान व्यक्ति तो दान के महत्त्व को समझते हैं और वह दान देना अपना कर्त्तव्य मानते हैं, परंतु मूर्ख व्यक्तियों को इस बात से क्लेश अनुभव होता है।

सद्गृहस्थ व्यक्ति जहां दान देना अपना कर्त्तव्य मानता है वहां मूर्ख व्यक्ति छोटी-से-छोटी वस्तु भी अपने से पृथक् करने में कष्ट अनुभव करता है। क्योंकि वह दान के महत्त्व को नहीं समझता। । 214 ।

॥ महदैश्वर्यं प्राप्याप्यधृतिमान् विनश्यति ॥

विवेकरहित व्यक्ति राज्यैश्वर्य पाकर भी नष्ट हो जाते हैं।

महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति प्रभु की कृपा और अपने प्रयत्न से होती है। विवेकहीन व्यक्ति सुख-साधन और महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करने पर भी नष्ट हो जाता है।

सुख-साधनों और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को धैर्यपूर्वक प्रयत्न करना पड़ता है। यदि वह अपने प्रयत्नों में धैर्य से काम न लेगा तो उसे महान् ऐश्वर्य और धन की प्राप्ति होना कठिन होगा। क्योंकि जिन व्यक्तियों में धैर्य की कमी होती है, वे अपने अविवेक के कारण महान् ऐश्वर्य प्राप्त करके भी नष्ट हो जाते हैं। । 215 ।

॥ नास्त्यधृतेरैहिकामुष्मिकम् ॥

धैर्यहीन पुरुष को न तो सांसारिक (लौकिक) सुख प्राप्त होते हैं और न ही पारलौकिक।

जिस व्यक्ति में धैर्य नहीं होता उसमें कार्य करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति धैर्यपूर्वक कार्य करते हैं उन्हें ही फल की प्राप्ति होती है। सफलता पाने के लिए धैर्यपूर्वक

कार्य करना बहुत आवश्यक होता है। अधीर व्यक्ति अपने चंचल स्वभाव के कारण किसी कार्य में सफल नहीं होते। । 216 ।

॥ न दुर्जनैः सह संसर्गः कर्त्तव्यः ॥

बुद्धिमान व्यक्तियों को दुष्ट लोगों से दूर रहना चाहिए। दुष्ट लोगों के संसर्ग से बचने से ही बुद्धिमान लोगों को लाभ होता है।

मनुष्य जिस प्रकार के समाज में रहता है उसका प्रभाव उसके जीवन पर अवश्य पड़ता है। इसीलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आपको दुष्ट व्यक्ति के संसर्ग से बचाता रहे। दुष्ट व्यक्तियों के संसर्ग से मनुष्यों में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। । 217 ।

॥ शौण्डहस्तगतं पयोऽप्यवमन्येत् ॥

शराब बेचनेवाले के हाथ में यदि दूध भी होगा तो उसे भी शराब ही समझा जाएगा।

इसका भाव यह है कि यदि दुष्ट व्यक्ति में कोई गुण भी होता है तो भी लोग उस पर विश्वास नहीं करते। वे उस गुण के प्रति भी आशंकित रहते हैं।

जिस प्रकार शराब बेचने वाले व्यक्ति की दुकान पर शराब के पात्र में यदि दूध भर दिया जाये तो भी लोग उसे शराब ही मानेंगे। इसी तरह दुष्टों के गुणों पर भी संदेह किया जाता है। । 218 ।

॥ कार्यसंकटेष्वर्थव्यवसायिनी बुद्धिः ॥

किसी कार्य को करते समय जब कोई कठिनाई सामने आती है तो मनुष्य बुद्धि द्वारा ही ऐसा कार्य करने का निश्चय करता है जिससे सफलता प्राप्त हो।

प्रत्येक कार्य आरंभ करने के बाद मनुष्य के काम में कठिनाइयां अवश्य आती हैं। परंतु बुद्धिमान व्यक्ति उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए धैर्यपूर्वक सोच-समझकर अपने कर्त्तव्य का मार्ग खोज लेता है, अर्थात् बुद्धि द्वारा ही आने वाली कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है। । 219 ।

॥ मितभोजनं स्वास्थ्यम् ॥

जो व्यक्ति भूख से कम भोजन करते हैं, वे स्वस्थ रहते हैं।

अर्थात् मनुष्य को जितनी भूख हो, उससे थोड़ा कम खाना चाहिए। इससे मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक रहता है। उसे किसी प्रकार के रोग नहीं घेरते। आवश्यकता से अधिक भोजन करने वाला व्यक्ति सदैव रोगी रहता है। । 220 ।

॥ पथ्यमप्यपथ्याजीर्णं नाश्रीयात् ॥

अपथ्य के कारण यदि अजीर्ण हो गया हो तो पथ्य भोजन को भी त्याग देना चाहिए।

जब मनुष्य ऐसा भोजन करता है जिसे पचाने में कठिनाई आती है तो उसका शरीर अपच रोग का शिकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में भोजन त्याग देना अधिक अच्छा है। कहा गया है कि 'अजीर्ण भोजनम विषम्' अर्थात् अजीर्ण होने पर भोजन करना विष के समान होता है। इसीलिए भोजन तभी करना चाहिए जब पहले किया हुआ भोजन पच गया हो और शरीर स्वस्थ अनुभव कर रहा हो। अजीर्ण में भोजन करने से मनुष्य जानबूझकर अपने शरीर में अनेक रोगों को आमंत्रित करता है। । 221 ।

॥ जीर्णभोजिनं व्याधिर्नोपसर्पति ॥

भोजन के पच जाने पर ही जो व्यक्ति भोजन करता है वह रोगों से बचा रहता है।

मनुष्य का शरीर रोगों का घर है, परंतु रोगों से बचने का उपाय यह है कि व्यक्ति अपनी क्षमता से अधिक भोजन न करे। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक भोजन करते हैं, वे सदैव बीमार रहते हैं, एक-न-एक रोग उन्हें घेरे रहता है। कहा भी गया है—'शरीरं व्याधि मंदिरम्'। । 222 ।

॥ जीर्णशरीरे वर्धमानं व्याधिर्नोपेक्ष्येत् ॥

वृद्ध अवस्था में यदि व्यक्ति रोगी रहने लगता है तो उसे अधिक सावधान रहना चाहिए। उसे रोगों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

वृद्धावस्था में मनुष्य की इंद्रियां शिथिल पड़ जाती हैं। उनमें इतनी शक्ति नहीं रहती, जिससे वे रोगों का मुकाबला कर सकें। वृद्धावस्था में शरीर के बहुत से तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, नये तत्त्वों का निर्माण कठिनाई से होता है। इसीलिए वृद्धावस्था में शरीर को स्वस्थ रखने के लिए व्यक्ति को सतर्क रहने की आवश्यकता रहती है। यदि उस अवस्था में कोई रोग शरीर में घर कर ले तो उसके प्रति मनुष्य को उपेक्षित भाव नहीं अपनाना चाहिए। इसे चाहिए कि वह यथाशीघ्र उस रोग से मुक्ति पाने का प्रयत्न करे। । 223 ।

॥ अजीर्णं भोजनं दुःखम् ॥

जिस समय अजीर्ण हो, उस समय भोजन करना पक्वाशय को अनिवार्य रूप से रोगों को घेर देने का कारण होता है। इससे मनुष्य का जीवन दुःखी हो जाता है।

अपच की स्थिति में भोजन करने से पक्वाशय पर अतिरिक्त भार पड़ता है। उससे शरीर में रोग पैदा हो जाते हैं। देखा गया है कि अजीर्ण की स्थिति में आवश्यकता से अधिक भोजन करने के कारण कुछ व्यक्तियों की भोजन-स्थल पर ही मृत्यु हो गई।

भारत के बहुत से लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि भूख के कारण देश में अधिक लोग मरते हैं परंतु यह बात अधिक सत्य है कि मरने वाले लोगों की अधिक संख्या ऐसी होती है जो पेट के रोगों से आक्रांत होते हैं। । 224 ।

॥ शत्रोरपि विशिष्यते व्याधिः ॥

शरीर के रोग शत्रु से भी अधिक हानिकारक होते हैं।

रोग के कारण मनुष्य के शरीर पर आठों प्रहर आक्रमण की-सी स्थिति बनी रहती है। मनुष्य शत्रु के आक्रमण से भयभीत रहता है परंतु व्याधि तो शरीर के अंदर रहनेवाला शत्रु है। जो जीवन पर हर समय आक्रमण करता रहता है। रोगों के कारण मनुष्य के प्राण, धन और उसके शरीर का विनाश होता है। उसका शरीर कमजोर हो जाता है। दवाइयों पर धन नष्ट होता है, इसलिए रोग शत्रु की अपेक्षा अधिक हानिकारक होता है। । 225 ।

॥ दानं निधानमनुगामि ॥

मनुष्य को दान उतना ही करना चाहिए, जितनी उसमें शक्ति हो अर्थात् धन की शक्ति को देखकर ही मनुष्य को दान करना चाहिए। जो अपनी शक्ति से अधिक दान करते हैं, उन्हें हानि होती है।

इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिन्होंने दान करने के स्वभाव के कारण भिखारियों का-सा जीवन बिताया। राजा बलि अपनी सामर्थ्य को देखे बिना दान करने के लिए प्रसिद्ध हैं। परंतु जब विष्णु ने वामन का अवतार धारण करके उससे केवल तीन पग भूमि मांगी तो वह इस बात को नहीं समझ सका और अपने स्वाभिमान के कारण उसने तीन पग भूमि देने का वचन दे दिया। वामन ने तीन पगों में तीनों लोकों को नाप लिया, इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि दान तो अवश्य करे परंतु उसे अपने धन की शक्ति का पूरा ज्ञान होना चाहिए। । 226 ।

॥ पटुतरे तृष्णापरे सुलभमतिसन्धानम् ॥

अपने अनुचित स्वार्थ की पूर्ति के लिए बहुत से व्यक्ति अनुचित रूप से घनिष्ठता बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि अनुचित रूप से अधिक मैत्री बढ़ाने का प्रयत्न करनेवाले व्यक्तियों से सावधान रहे।

अधिकांश लोगों के मन में केवल एक ही बात रहती है, वे चाहते हैं कि किसी तरह उनके स्वार्थ की पूर्ति हो। वे अपना काम सिद्ध करने के लिए ऐसे व्यक्ति से अधिक घनिष्ठता बढ़ाते हैं जो उनका स्वार्थ पूर्ण करने में सहायक हो सकता है। बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि इस प्रकार अनुचित घनिष्ठता बढ़ाने वालों से सतर्क रहे। । 227 ।

॥ तृष्णया मतिश्छाद्यते ॥

लोभ के कारण मनुष्य की बुद्धि पर एक आवरण पड़ जाता है और वह ठीक से सोच नहीं पाता।

जो व्यक्ति हर समय लोभ के वश में रहते हैं उनकी बुद्धि सही दिशा में सोचने में असमर्थ रहती है। उसके लिए वस्तुओं की प्राप्ति महत्वपूर्ण होती है, परिणाम नहीं।

‘तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा’ अर्थात् मनुष्य में लोभ-लालच की भावनाएं कभी समाप्त नहीं होती परंतु मनुष्य का शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर समाप्त हो जाता है। इसलिए जहां तक हो सके मनुष्य को तृष्णा अथवा लोभ-लालच के अधिक चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। इंद्रिय संयम से काम लेते हुए बुद्धि को स्थिर रखना चाहिए। । 228 ।

॥ कार्यबहुत्वे बहुफलमायतिकं कुर्यात् ॥

जब मनुष्य के सामने अनेक कार्य करने के लिए हों तो सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थायी परिणामवाले कार्य को कर्तव्य के रूप में करना स्वीकार करना चाहिए। उस काम को समाप्त करने के पश्चात् अन्य छोटे अथवा सामान्य महत्त्व के कार्य को अपने हाथ में लेना चाहिए।

अनेक मनुष्यों के पास अनेक कार्यों को पूरा करने का उत्तरदायित्व होता है। आज संसार की व्यवस्था ही ऐसी है जिसमें मनुष्य को अनेक कार्य अपने हाथ में लेने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य को चाहिए कि वह सबसे पहले उस कार्य को हाथ में ले जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो और जिसका परिणाम स्थायी तथा समाज के लिए कल्याणकारी हो। । 229 ।

॥ स्वयमेवावस्कन्नं कार्यं निरीक्षेत ॥

कार्य करते समय जो कार्य बिगड़ जाए उनको स्वयं देखकर सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए।

मनुष्य की शक्तियां सीमित होती हैं या जो कोई भी कार्य करता है उसमें अनेक त्रुटियां रह जाती हैं। उसे चाहिए कि वह स्वयं उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करे। किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा त्रुटियां ठीक करवाने से फिर किसी-न-किसी त्रुटि की संभावना रह सकती है। इसलिए किसी भी बिगड़े हुए कार्य को स्वयं सोच-विचारकर ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे के भरोसे रहकर काम सिद्ध नहीं किया जा सकता। । 230 ।

॥ मूर्खेषु साहसं नियतम् ॥

दुस्साहस करना मूर्खों का स्वभाव होता है।

मूर्ख व्यक्ति कोई ऐसा कार्य कर सकते हैं जिन्हें दुस्साहस की श्रेणी में रखा जा सकता है। किसी पर अचानक निर्दयतापूर्ण आक्रमण, किसी से दुर्व्यवहार और मूर्खतापूर्ण कार्य दुस्साहसपूर्ण कार्य कहलाते हैं। सज्जन और विद्वान् व्यक्ति जो कोई कार्य करते अथवा योजना बनाते हैं उसमें दुस्साहस की बात नहीं वरन् बहुत सोच-विचारकर कार्य करने की योजना रहती है। किसी प्रकार के दुस्साहसपूर्ण कार्य से मनुष्य को लाभ होते नहीं देखा गया। हत्या, चोरी, डकैती आदि भी दुस्साहसपूर्ण कार्यों में आते हैं, मूर्ख व्यक्ति ही ऐसे कार्य कर सकते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति सदैव इस प्रकार के कार्यों से बचने का प्रयत्न करते हैं। । 231 ।

॥ मूर्खेषु विवादो न कर्त्तव्यः ॥

मूर्ख व्यक्तियों से किसी प्रकार का वाद-विवाद नहीं करना चाहिए।

जिन व्यक्तियों को उचित और अनुचित कार्यों के संबंध में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं, उनसे काम के संबंध में वाद-विवाद करना व्यर्थ होता है। । 232 ।

॥ मूर्खेषु मूर्खवत् कथयेत् ॥

मूर्खों से मूर्खों के समान ही व्यवहार करना चाहिए।

मूर्ख से सज्जनतापूर्ण व्यवहार करने से कोई लाभ नहीं होता। उसकी समझ में केवल डंडे की भाषा आती है। इसलिए मूर्खों से समानता का व्यवहार करने वाला व्यक्ति सदा संकट में पड़ा रहता है। डंडे की भाषा से मतलब इस प्रकार का कठोर व्यवहार है जिसका मूर्ख व्यक्ति पर प्रभाव पड़े। । 233 ।

॥ आयसैरायसं छेद्यम् ॥

लोहे से लोहे को काटा जाता है।

दुष्ट और पतित व्यक्ति को अच्छा उपदेश देकर उसके हठीले स्वभाव को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उसे अपने विचारों के अनुकूल बनाने की भ्रांति से अलग रहना चाहिए। । 234 ।

॥ नास्त्यधमितः सखा ॥

मूर्ख व्यक्ति के सच्चे मित्र नहीं होते।

यह कहावत प्रसिद्ध है कि एक जैसे विचार और स्वभाव वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ रहते हैं। इससे भी सिद्ध है कि मूर्ख व्यक्ति के मित्र भी मूर्ख हो सकते हैं। । 235 ।

॥ धर्मेण धार्यते लोकः ॥

इस संसार को धर्म के द्वारा ही धारण किया जा सकता है अर्थात् इस संसार में सत्यरूपी मानव ही धर्म का संरक्षक है।

श्रेष्ठ कर्म करना तथा अश्रेष्ठ से बचना ये दो धर्म के बड़े भेद हैं। धार्मिक मनुष्य को कर्त्तव्य पूरे करने पड़ते हैं, अकर्त्तव्य त्यागना उसका स्वभाव हो जाता है। मानव समाज का संरक्षक सत्यरूपी मानव धर्म ही है। । 236 ।

॥ प्रेतमपि धर्माधर्मावनुगच्छतः ॥

मनुष्य की मृत्यु हो जाने तथा उसके देह त्याग करने पर भी उसके अच्छे व बुरे कर्म उसके अंतकाल में भी उसके साथ जाते हैं।

मनुष्य जिस प्रकार के कार्य करता है, मृत्यु हो जाने पर उन कर्मों का फल भी मनुष्य के साथ जाता है अर्थात् मनुष्य देह से जो धर्म अथवा अधर्म के कार्य करता है, उसके अनुसार उसे जीवन का फल भोगना पड़ता है। । 237 ।

॥ दया धर्मस्य जन्मभूमिः ॥

दया ही धर्म की माता कही जा सकती है अर्थात् दया से ही धर्मनिष्ठा पैदा होती है।

दया ही ऐहिक अभ्युदय और मानस उत्कर्ष पैदा करनेवाले धर्म की जन्मभूमि है। मैत्री, करुणा, प्रसन्नता, उपेक्षा, पुण्यात्माओं से मैत्री, दुःखियों पर करुणा, खुशियों को देखकर हर्ष व पापियों के प्रति घृणा से चित्त निर्मल होता है। निर्मल चित्त में ही दया उत्पन्न होती है। । 238 ।

॥ धर्ममूले सत्यदाने ॥

धर्म ही सत्य तथा दान दोनों का मूल कारण है। । 239 ।

॥ धर्मेण जयति लोकान् ॥

धर्म की रक्षा मानव को विश्वविजेता बना देती है।

समाज में मनुष्यता के संरक्षक धार्मिकों की जो निष्ठा और कीर्ति है, वही तो उन लोगों की विश्वविजय है। असत्य का दमन या असत्य का सिर अवनत करने की सामर्थ्य ही उनकी विजय है।

धर्म से मनुष्य की उन्नति और अधर्म से पतन होता है। । 240 ।

॥ मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति ॥

मृत्यु भी धार्मिक मनुष्यों को इस संसार से पूरी तरह मिटा नहीं पाती।

मृत्यु के बाद भी मनुष्य धर्म से युक्त अपने कार्यों के कारण जीवित रहता है। उसका नाम अमर होता है क्योंकि धर्म को जीवन-मरण के चक्र से भी नष्ट नहीं किया जा सकता। ।

241 ।

॥ धर्माद्विपरीतं पापं यत्र प्रसज्यते तत्र धर्माविमर्तिर्महती प्रसज्येत ॥

धर्म का विरोधी पाप जब अधिक प्रबल हो जाता है तो धर्म का अपमान होने लगता है।

भाव यह है कि जब संसार में पापपूर्ण कार्यों की प्रबलता होती है तो धर्म से द्वेष करनेवाले असुर लोग धर्म का अपमान करते हैं अर्थात् धर्मपरायण व्यक्ति कष्ट उठाते हैं।

जब भी संसार के इतिहास में इस तरह की घटनाएं प्रारंभ हुई हैं और जब उसके कार्यों की अति हो जाती है तो संसार में कोई ऐसा युगपुरुष पैदा होता है जो धर्म की स्थापना करता है—

“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।”

श्रीकृष्ण के ये शब्द इसी बात की पुष्टि करते हैं। । 242 ।

॥ उपस्थितविनाशानां प्रकृत्याकारेण लक्ष्यते ॥

विनाशोन्मुख असुरों का सत्यद्वेषी आकार (आचरण) उनके विनाश की सूचना देता है।

पापियों का धर्म के विरुद्ध प्रबल होता आचरण उनके स्वयं के विनाश का सूचक होता है। इससे वे नष्ट हो जाते हैं। । 243 ।

॥ आत्मविनाशं सूचयत्यधर्मबुद्धिः ॥

जब मनुष्य के मन में अधर्म बुद्धि उत्पन्न होती है तो वह अधर्मात्मा के विनाश की सूचक होती है।

जब मनुष्य का विनाश अथवा किसी प्रकार की हानि की संभावना होती है तो उसके मन में धर्म के विपरीत विचार उत्पन्न होते हैं। अधर्म-बुद्धि मनुष्य सत्य कार्यों से द्वेष करने

लगते हैं। इस प्रकार वह अपने आपको विनाश के अंधकार में धकेल देता है अर्थात् मनुष्य के मन में आए हुए धर्म विरोधी विचार ही उसके विनाश की सूचना देनेवाले होते हैं। । 244 ।

॥ पिशुनवादिनो रहस्यम् ॥

चुगलखोर अथवा दूसरों के दोष निकालने वाले व्यक्तियों को कोई गुप्त बात नहीं बतानी चाहिए। उन्हें बताई गई गुप्त बात गुप्त नहीं रह सकती।

जो लोग दूसरों के दोष निकालते रहते हैं अथवा जिनका स्वभाव दूसरों की निंदा करना है उनसे कोई भी बात गुप्त रखना असंभव हो जाता है। दूसरों की निंदा करनेवाले व्यक्ति को कभी भी अपना सहयोगी नहीं बनाना चाहिए। । 245 ।

॥ पररहस्यं नैव श्रोतव्यम् ॥

दूसरों की गुप्त बातें सुनने की इच्छा मन में पैदा नहीं होनी चाहिए। अन्य लोगों की गुप्त बातें सुनने का आग्रह भी नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार पराये धन को प्राप्त करने का लोभ चोरी अथवा अपहरण प्रवृत्ति का द्योतक है, उसी प्रकार दूसरों की गुप्त बातें सुनने व जानने की इच्छा होना भी एक दोष है। सामाजिक दृष्टि से भी यह बात अच्छी नहीं मानी जाती। । 246 ।

॥ वल्लभस्य कारकत्वमधर्मयुक्तम् ॥

स्वामी का कठोर होना अधर्म माना जाता है।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने सेवकों का हर प्रकार से ध्यान रखे। हर समय उनसे कठोर व्यवहार करना उचित नहीं। जो स्वामी सदैव अपने नौकरों-चाकरों से कठोरता बरतता है, समय आने पर उसके सेवक विरोधी बन जाते हैं। अनेक बार इन्हीं व्यक्तियों से उसके जीवन के लिए संकट उपस्थित हो जाते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अथवा राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रितों के प्रति ध्यान दे और उनके प्रति उदारता का बर्ताव करे। । 247 ।

॥ स्वजनेष्वतिक्रमो न कर्त्तव्यः ॥

अपने हितैषियों की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए अर्थात् सज्जनों और अपना हित चाहनेवाले व्यक्तियों का सदैव सम्मान करना चाहिए।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। दूसरों की सहायता के बिना उसका जीवन-निर्वाह कठिन हो जाता है। इसलिए उसे चाहिए कि वह अपना हित चाहनेवाले व्यक्तियों की कभी उपेक्षा अथवा अनादर न करे, उनके साथ सदैव उनकी स्थिति के अनुसार अच्छा व्यवहार

करे। इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि उनके मन में आप के प्रति अनादर की भावना पैदा न हो। । 248 ।

॥ मातापि दुष्टा त्याज्या ॥

दुष्ट होने पर माता का त्याग भी कर देना चाहिए। जो माता अपनी संतान से शत्रुता करती है, उससे दूर रहना चाहिए।

इस सूत्र का मूल भाव यह है कि दुष्ट व्यक्तियों से सदैव दूर रहना चाहिए। माता का उदाहरण देकर कहा गया है कि यदि जन्म देने वाली माता भी दुष्ट स्वभाव की हो तो उसे भी त्याग देना चाहिए। । 249 ।

॥ स्वहस्तोऽपि विषदिग्धश्छेद्यः ॥

यदि अपने हाथ में भी विष फैल जाए तो आत्मरक्षा हेतु उसे भी काट देना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई अत्यन्त प्रिय संबंधी अनिष्ट करने पर उतर आए तो उसका त्याग करके अपनी रक्षा करनी चाहिए।

मनुष्य के शरीर के किसी अंग में जब विष फैल जाता है तो जीवन-रक्षा का उपाय यही है कि उस अंग को शरीर से अलग कर दे। यदि ऐसा नहीं किया जाएगा तो उस अंग का विष सारे शरीर में फैल जाएगा और मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाएगा। जब, विष के कारण मनुष्य अपने शरीर के अंग को कटवाने के लिए तैयार हो जाता है तो यदि कोई प्रिय व्यक्ति भी विनाश करने की तैयारी करता है तो उसको भी त्याग देने में ही भलाई होती है। । 250 ।

॥ परोऽपि च हितो बन्धुः ॥

किसी प्रकार का सांसारिक संबंध न होने पर भी यदि कोई व्यक्ति आपके हित के अनुकूल व्यवहार करता है तो उसे अपना बंधु समझकर अपना लेना चाहिए।

यह आवश्यक नहीं कि अपने सभी बंधु-बांधव हित चाहने वाले हों, उनमें बहुत से संबंधी उदासीन होते हैं, इसलिए यदि कोई बाहर का व्यक्ति आपके हित की रक्षा के लिए आगे आता है तो उसे अपना मित्र मानने में क्या हानि है? । 251 ।

॥ कक्षादप्यौषधं गृह्यते ॥

सूखे वन से भी औषधियां प्राप्त की जा सकती हैं।

जिस प्रकार सूखे वन से भी औषधियां प्राप्त करने के लिए व्यक्ति उत्सुक रहता है, उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से हीन होकर भी आपका हित चाहने वाला है,

तो उसे स्वीकार करना चाहिए। उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। । 252 ।

॥ नास्ति चोरेषु विश्वासः ॥

चोरों का कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

चोर उसे कहते हैं जो व्यक्ति किसी की इच्छा के विरुद्ध किसी वस्तु का अपहरण करे। दूसरों की वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति संसार के सभी वर्गों में मिलते हैं। अपने सगे-संबंधियों में भी इस प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं। इसलिए आवश्यक है कि चोर कोई भी हो, उसका विश्वास नहीं करना चाहिए। । 253 ।

॥ अप्रतीकारेष्वनादरो न कर्त्तव्यः ॥

बाधारहित कार्य के संबंध में कभी उपेक्षावृत्ति नहीं अपनानी चाहिए।

इसका भाव यह है कि यदि राजा यह समझे कि इसका शत्रु अपने बचाव का उपाय नहीं कर रहा तो भी उसकी ओर से सदैव सतर्क रहना चाहिए। उसकी उपेक्षा करना स्वयं को हानि पहुंचाना है क्योंकि राजनीति का यह परम मंत्र है कि राजा को कभी अपना भेद किसी पर प्रकट नहीं करना चाहिए। । 254 ।

॥ व्यसनं मनागपि बाधते ॥

विपत्ति या दुर्व्यसन को छोटा मानकर उपेक्षा न करो।

किसी विपत्ति अथवा व्यसन को बहुत छोटा नहीं मानना चाहिए।

क्योंकि वह छोटा-सा व्यसन ही किसी समय सर्वनाश का कारण बन सकता है। व्यसन छोटा हो अथवा बड़ा, मनुष्य को हानि पहुंचाने वाला होता है। व्यसनी अपने कर्त्तव्यों को भूल जाता है। । 255 ।

॥ अमरवदर्थजातमर्जयेत् ॥

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने आपको अमर मानता हुआ आयु भर ऐसी सामग्रियों का संग्रह करता रहे जो जीवन के लिए उपयोगी होती हैं।

मनुष्य को चाहिए कि वह जीवनपर्यंत धर्म और सत्याचरण पर आश्रित रहता हुआ जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं और धन का संग्रह करता रहे। धन ऐसी वस्तु है जिसके बिना धर्म के कार्य करना भी असंभव होता है। जिस व्यक्ति के पास धन नहीं होता वह अपने सगे-संबंधियों में भी सम्मान का जीवन नहीं बिता सकता। इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति जीवन भर सत्याचरण द्वारा धन का संग्रह करता रहे। । 256 ।

॥ अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः ॥

धनवान् व्यक्ति हर जगह सम्मानित होता है।

आज की स्थिति को देखते हुए चाणक्य की यह बात अक्षरशः सत्य है। । 257 ।

॥ महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहु मन्यते लोकः ॥

संसार में निर्धन राजा को भी सम्मान प्राप्त नहीं होता।

इस सूत्र में महेन्द्र शब्द आया है। इस शब्द का वास्तविक अर्थ है—स्वर्ग का सम्राट। अर्थात् यदि स्वर्ग के सम्राट के पास भी धन नहीं है तो उसका इस संसार में सम्मान नहीं हो सकता। । 258 ।

॥ दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणम् ॥

दरिद्र व्यक्ति जीवित होते हुए भी मृत के समान समझा जाता है।

संसार में दरिद्रता एक ऐसा कलंक है जिसके कारण जीवित व्यक्ति को भी मरे हुए के समान मान लिया जाता है, क्योंकि उसमें किसी भी कार्य को संपन्न करने की शक्ति नहीं होती। इसीलिए चाणक्य कहते हैं कि धनहीन व्यक्ति मरे हुए के समान है। । 259 ।

॥ विरूपोऽर्थवान् सुरूपः ॥

कुरूप व्यक्ति भी यदि धनवान् है, तो उसे भी सुन्दर मान लिया जाता है।

भारत में ऐसी कहावत प्रसिद्ध है कि धनी परिवारों के पागलों को भी बुद्धिमान मान लिया जाता है। इससे सिद्ध है कि धन का मनुष्य के जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह जीवन भर धन-संग्रह के लिए प्रयत्नशील रहे। । 260 ।

॥ अदातारमप्यर्थवन्तमर्थिनो न त्यजन्ति ॥

धन-संग्रह करने के इच्छुक लोग कंजूस धनवान से भी धन प्राप्ति की इच्छा रखते हैं।

जो लोग अपने जीवन में धन-संग्रह को अपना लक्ष्य बना लेते हैं, वे ऐसे लोगों से भी धन प्राप्ति की इच्छा रखते हैं जो अत्यन्त कंजूस होते हैं। कंजूस व्यक्ति किसी को धन क्या देगा, वह तो अपने पर धन खर्च करने में भी आना-कानी करता रहता है। परंतु कुछ लोग ऐसे लोगों से भी धन लाभ प्राप्त कर लेते हैं। । 261 ।

॥ अकुलीनोऽपि कुलीनाद्विशिष्टः ॥

अच्छे कुल में न उत्पन्न होनेवाला धनवान् व्यक्ति अपने धन का उपयोग यदि समाज सेवा के लिए करता है तो समाज सेवा से विमुख रहनेवाले कुलीन व्यक्ति से भी वह श्रेष्ठ है।

यह बात आवश्यक नहीं कि अच्छे कुल में उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति ही समाज में सम्मान प्राप्त करता है। समाज में सम्मान उस व्यक्ति का भी होता है जो अच्छे कुल में न उत्पन्न होने पर भी अपना धन समाज सेवा से जुड़े कार्यों में लगाता है। उसे कुलीन व्यक्ति से भी श्रेष्ठ माना जाता है। । 262 ।

॥ नास्त्यमानभयमनार्यस्य ॥

नीच व्यक्ति को समाज में अपमानित अथवा तिरस्कृत होने का कोई डर नहीं रहता।

नीच व्यक्ति पर अपमान व तिरस्कार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे व्यक्ति की आत्मा का पूरी तरह से पतन हो चुका होता है। ऐसे व्यक्ति के लिए मान-अपमान का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता। । 263 ।

॥ न चेतनवतां वृत्तिभयम् ॥

चतुर व्यक्ति को जीवन में आजीविका चलाने का कोई भय नहीं होता।

संसार के सुखों में व्यक्ति के पास एक अच्छी आजीविका का होना भी अच्छा माना गया है। व्यवहार-कुशल अथवा चतुर व्यक्ति अपनी आजीविका चलाने के लिए किसी के मोहताज नहीं होते। न किसी की गलत बात बरदाश्त करते हैं और न उन्हें गुलामी स्वीकार है। । 264 ।

॥ न जितेन्द्रियाणां विषयभयम् ॥

जितेंद्रिय व्यक्ति को विषयों का भय नहीं होता।

जिस व्यक्ति ने अपनी इंद्रियों को वश में किया हुआ है, यदि वह विषयभोगों के निकट भी रहता है तो भी उसके चरित्र के पतित होने की संभावना नहीं रहती। इसलिए जिसने अपनी इंद्रियों को वश में किया हुआ है, वह किसी भी स्थान पर रह सकता है अथवा कहीं भी जा सकता है। किसी भी प्रकार से उसके पाप कार्यों में लिप्त होने की संभावना नहीं रहती। । 265 ।

॥ न कृतार्थानां मरणभयम् ॥

संसार के रहस्य को समझकर जो व्यक्ति अपने कर्तव्य-पालन द्वारा जीवन को

सार्थक बनाने का प्रयत्न करता है उसे मृत्यु का भी भय नहीं होता।

जो व्यक्ति संसार में अपने जीवन की सार्थकता को समझकर अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं, उन्हें मृत्यु से किसी प्रकार का भय नहीं होता। संसार का नियम है कि जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी, परंतु जिन व्यक्तियों ने अपने जीवन के ध्येय को समझकर अपने कर्तव्य पूरे कर लिए, उन्हें संसार में मृत्यु भयभीत नहीं कर सकती। । 266

|

॥ कस्यचिदर्थं स्वमिव मन्यते साधुः ॥

सच्चे स्वभाववाले पुरुष पराये धन को अपने पास रखी हुई अपने धन के समान सत्य की धरोहर मानते हैं।

इसका भाव यह है कि सज्जन जिस प्रकार अपने धन का सत् कार्यों में प्रयोग करते हैं उसी प्रकार वह चाहते हैं कि अन्य लोगों का धन भी समाज के कल्याणकारी कार्यों में लगे। जबकि मूढ़मति और दुष्ट लोग चाहते हैं कि अपना धन तो बचा रहे और दूसरे का धन, बीमारी, मुकदमे और दूसरे व्यसनों में नष्ट हो जाए। । 267 ।

॥ परविभवेष्वादरो न कर्तव्यः ॥

दूसरे के धन के प्रति लालच की भावना नहीं रखनी चाहिए। व्यक्ति को चाहिए कि दूसरे के वैभव की लिप्सा न करे।

मनुष्य को कभी भी दूसरों के धन के प्रति लोभ की भावना नहीं रखनी चाहिए। ऐसा करना स्वयं व्यक्ति के लिए घातक है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से जो संपत्ति अर्जित करता है, उसी पर संतोष करना चाहिए। । 268 ।

॥ परविभवेष्वादरोपि विनाशमूलम् ॥

दूसरे के धन, संपत्ति और वैभव की लिप्सा करना नाश का कारण बन सकता है।

दूसरे के धन को लालच की दृष्टि से देखना सामाजिक बंधनों के लिए हानिकारक है। मनुष्य धन के लोभ में अपना विवेक खो बैठता है। उसे इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि उसका कर्तव्य समाज का कल्याण करना है, न कि दूसरों के धन का हरण करने की इच्छा रखना। इस प्रकार की प्रवृत्ति से उसका स्वयं का ही नाश हो जाता है। । 269 ।

॥ पलालमपि परद्रव्यं न हर्तव्यम् ॥

दूसरे के धन का तिनके जितना अंश भी अपहरण नहीं करना चाहिए।

तिनके के समान अत्यन्त अल्प मात्रा में भी किसी दूसरे व्यक्ति के धन को चुराने की

इच्छा नहीं रखनी चाहिए। अनधिकारपूर्वक किसी की छोटी-से-छोटी वस्तु, जिसका महत्त्व तिनके के समान हो, लेने का प्रयत्न करना भी चोरी है। चोरी के अपराध में चुराई गई वस्तु के कम अथवा अधिक होने का महत्त्व नहीं। चुराई गई वस्तु छोटी हो अथवा बड़ी, वे चोरी की श्रेणी में ही आती हैं। वस्तुतः मन में चोरी की भावना होना ही अपराध है। इससे चोरी करने वाले की मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। इसलिए व्यक्ति को अपने मन से चोरी की भावना को समाप्त कर देना चाहिए। । 270 ।

॥ परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यनाशहेतुः ॥

दूसरों के धन का अपहरण करना अपने धन के विनाश का कारण बन जाता है। । 271 ।

॥ न चौर्यात् परं मृत्युपाशः ॥

चोरी से बढ़कर कोई भी अधिक कष्ट देनेवाला बंधन नहीं।

चोरी का फंदा मृत्यु के फंदे से अधिक दुःखदायी होता है। । 272 ।

॥ यवागूरपि प्राणधारणं करोति लोके ॥

जीवन की रक्षा के लिए जौ का दलिया ही काफी होता है, यदि वह उचित समय पर प्राप्त हो जाए।

यदि व्यक्ति को प्राण-रक्षा के लिए उचित समय पर सबसे सस्ते अन्न का घोल खाने के लिए मिल जाए तो उससे भी उनकी रक्षा हो जाती है अर्थात् जीवन की रक्षा के लिए समय पर सस्ती-से-सस्ती वस्तु का अल्प मात्रा में प्राप्त होने का भी महत्त्व है। । 273 ।

॥ न मृतस्यौषधं प्रयोजनम् ॥

मृत्यु के बाद औषधियों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

इसका भाव यह है कि समय के अनुरूप ही साधनों का प्रयोग अथवा उपयोग करना चाहिए। समय के बाद साधनों का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। जिस प्रकार मृत्यु से पूर्व रोगी व्यक्ति के लिए औषधि की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति कोई कार्य कर रहा होता है, तो उस कार्य के अनुरूप साधनों का उपयोग करने से कार्य सरलतापूर्वक संपन्न हो जाता है। । 274 ।

॥ समकाले स्वयमपि प्रभुत्वस्य प्रयोजनं भवति ॥

साधारण समय में अपना प्रभुत्व बनाए रखना कर्त्तव्य का रूप धारण कर लेता है। ।
275 ।

॥ नीचस्य विद्याः पापकर्मणि योजयन्ति ॥

नीच पुरुष का ज्ञान और उसकी विद्या उसको पापकर्म में प्रवृत्त करती है।

नीच मनुष्य अपने ज्ञान का उपयोग अपने पापकर्मों के लिए ही करता है। उसकी योग्यता का प्रदर्शन वह अपने नीच कर्मों द्वारा ही करता है। अर्थात् नीच व्यक्ति के पास यदि किसी प्रकार का ज्ञान है तो वह इसका उपयोग भलाई के लिए नहीं वरन् पापपूर्ण कार्यों के लिए ही करता है। उसकी योग्यता, चोरी, दूसरों से कपट, झूठ बोलने तथा इसी प्रकार के अन्य दुष्कर्मों में ही प्रकट होती है। वह अपने ज्ञान का प्रयोग अच्छे कार्यों के लिए नहीं कर सकता। । 276 ।

॥ पयः पानमपि विषवर्धनं भुजंगस्य नामृतं स्यात् ॥

सांप को दूध पिलाने से उसके विष में ही वृद्धि होती है। वह अमृत नहीं बनता।

जिस प्रकार सांप को दूध पिलाने से उसके विष में ही वृद्धि होती है, उसी प्रकार नीच व्यक्ति का विद्याओं को प्राप्त करना उसकी नीच प्रवृत्तियों को ही बढ़ावा देना है। उसके ज्ञान से उसकी नीच प्रवृत्तियां कई गुना बढ़ जाती हैं। वह उस विद्या का उपयोग अपनी नीचता के पक्ष में करता है। अपनी बुरी आदतों के पक्ष में शास्त्रों की उक्ति कहते आपको बहुत से लोग आपके आसपास मिल जाएंगे। । 277 ।

॥ नहि धान्यसमो ह्यर्थः ॥

संसार में अन्न के समान दूसरा कोई जीवनोपयोगी पदार्थ नहीं। । 278 ।

॥ न क्षुधासमः शत्रुः ॥

भूख से बढ़कर मनुष्य का दूसरा कोई शत्रु नहीं। । 279 ।

॥ अकृतेर्नियता क्षुत् ॥

निकम्मे व्यक्ति को अकसर भूख का कष्ट भोगना पड़ता है।

आलसी और निकम्मा व्यक्ति जीवनभर दरिद्रता में फंसा रहता है। वह स्वयं तो भूखों मरता ही है, अपने आश्रितों को भी भूख से मरने के लिए विवश करता है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन को निकम्मा और आलसी न बनाए। । 280 ।

॥ नास्त्यभक्ष्यं क्षुधितस्य ॥

भूखा मनुष्य कुछ भी अर्थात् अभक्ष्य को भी खाने के लिए विवश हो जाता है।

भूखे लोग घास, वृक्षों के पत्ते, उनकी छाल, मिट्टी में मिले हुए अन्न के अंश और मनुष्य के न खाने योग्य नरमांस आदि को खाने के लिए भी विवश हो जाते हैं।

भूख संसार का सबसे बड़ा कष्ट है। राजा अथवा सरकारों का कर्तव्य है कि वे अपनी प्रजा को कभी भी अकाल से पीड़ित न होने दें। भूखा व्यक्ति न चाहते हुए भी राज्य का अहित कर सकता है। । 281 ।

॥ इन्द्रियाणि जरावशं कुर्वन्ति ॥

इंद्रियों के मर्यादाहीन उपयोग से ही समय से पूर्व मनुष्यों को बुढ़ापा घेर लेता है।

जो व्यक्ति इंद्रियों को वश में न रखकर उनका दुरुपयोग करता है, उसको इसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। वह समय से पूर्व ही बुढ़ापे का शिकार हो जाता है। । 282 ।

॥ सानुक्रोशं भर्तारमाजीवेत् ॥

ऐसे स्वामी की ही सेवा करके जीविका का उपार्जन करना चाहिए जो दयालु हों।

सेवक को चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति की ही चाकरी करे जो मनुष्यता का सम्मान करता हो अर्थात् जो दूसरे मनुष्य को अपने समान समझता हो। । 283 ।

॥ लुब्धसेवी पावकेच्छया खद्योतं धमति ॥

लोभी और कंजूस स्वामी के सेवक की वही दशा होती है जो जुगनू को देखकर उससे आग प्राप्त करने के लिए उस पर पंखे से हवा करता है।

जिस प्रकार जुगनू की चमक से अग्नि पैदा नहीं हो सकती उसी प्रकार सहानुभूतिहीन स्वामी का सेवक सदैव कष्ट पाता है। उसकी इच्छाएं कभी पूर्ण नहीं होतीं। इसलिए लोभी व्यक्ति को कभी अपना स्वामी नहीं बनाना चाहिए। । 284 ।

॥ विशेषज्ञं स्वामिनमाश्रयेत् ॥

विद्वान् अथवा विशेषज्ञ स्वामी का आश्रय प्राप्त करना चाहिए।

जो व्यक्ति गुणी को पहचानकर उसके गुणों का आदर करता है, ऐसे व्यक्ति को ही अपना स्वामी मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए। जो गुणी व्यक्ति को नहीं पहचानता उसके पास रहना अथवा उसकी सेवा करना व्यर्थ है। । 285 ।

॥ पुरुषस्य मैथुनं जरा ॥

अधिक मैथुन करने से पुरुष समय से पूर्व ही बूढ़ा हो जाता है।

मैथुन की भी एक सीमा होती है। यदि कोई व्यक्ति सीमा और अपनी शक्ति से अधिक स्त्री का सेवन करता है तो वह समय से पूर्व ही वृद्धावस्था का शिकार हो जाता है। ।
286 ।

॥ स्त्रीणाममैथुनं जरा ॥

उचित मैथुन सुख न मिलने से स्त्री जल्दी बूढ़ी हो जाती है।

मैथुन शरीर की एक आवश्यकता है। स्त्रियों में रजस्वला होने के बाद मैथुन की इच्छा होती है। यदि उनसे उचित समय पर उचित मैथुन न किया जाये तो वे जल्दी बूढ़ी हो जाती हैं। । 287 ।

॥ न नीचोत्तमयोर्विवाहः ॥

नीच और उत्तम कुल के व्यक्तियों में परस्पर विवाह संबंध नहीं होना चाहिए।

मनुष्य-समाज में प्रत्येक प्रकार के संबंध तभी सफल हो सकते हैं जब वे समानता पर आधारित हों। जहां संबंधों में असमानता होती है वहीं कष्ट पैदा हो जाते हैं। विवाह आदि के संबंध में तो कुलों की समानता देखना और भी आवश्यक हो जाता है। कुल की समानता के अतिरिक्त विचारों और सामाजिक स्थिति में भी समानता का होना आवश्यक है। इन बातों को ध्यान में रखे बिना स्थापित किए गये संबंधों के कारण कटुता पैदा हो जाती है। । 288 ।

॥ अगम्यागमनादायुर्यशः पुण्यानि क्षीयन्ते ॥

वेश्या आदि स्त्रियों के साथ सहवास करने से आयु, यश और पुण्य नष्ट हो जाते हैं। ।
289 ।

॥ नास्त्यहंकारसमः शत्रुः ॥

अहंकार अर्थात् मिथ्याभिमान से बड़ा मनुष्य का कोई शत्रु नहीं है।

स्वाभिमान और अहंकार में भारी अंतर है। मनुष्य में स्वाभिमान तब आता है जब उसमें योग्यता होती है और अहंकार अयोग्य व्यक्तियों में होता है। स्वाभिमान जहां व्यक्ति को अपने आत्मगौरव को ठेस नहीं पहुंचने देता वहां अहंकार के कारण व्यक्ति को भारी हानि उठानी पड़ती है। इसीलिए अहंकार मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु बताया गया है। । 290 ।

॥ संसदि शत्रुं न परिक्रोशेत् ॥

सभा में शत्रु की निंदा नहीं करनी चाहिए। उसे किसी प्रकार के कटु वचन कहकर सभा को लड़ाई-झगड़े का केंद्र नहीं बनने देना चाहिए।

बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है कि सभा में कोई ऐसी कटु वाणी अपने विरोधियों के लिए प्रयोग न करे जिससे उनका क्रोध भड़के। चतुर व्यक्ति सभा में अपनी बात इस तरह कहता है कि जिससे उसके विचार भी स्पष्ट प्रकट हो जायें और विरोधियों को भी क्रोध न आये। । 291 ।

॥ शत्रु व्यसनं श्रवणसुखम् ॥

शत्रु की विपत्ति अथवा उसके दुःख की बात सुनकर कानों को आनंद अनुभव होता है।

शत्रु पर विपत्ति आने की बात सुनकर प्रायः सभी व्यक्तियों को प्रसन्नता होती है। । 292 ।

॥ अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते ॥

धनहीन व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो जाती है।

संसार में निर्धनता से बढ़कर कोई अभिशाप नहीं। निर्धन व्यक्ति का अपने बन्धु-बान्धवों, परिवारवालों और मित्रों में भी अपमान होता है। इस प्रकार अपमान से घबराकर वह ऐसे अनर्थ कार्य कर बैठता है जिसकी मनुष्य से आशा नहीं की जा सकती। । 293 ।

॥ हितमप्यधनस्यवाक्यं न शृणोति ॥

निर्धन व्यक्ति की हितकारी बातों को भी कोई नहीं सुनता।

निर्धन व्यक्ति यदि कोई अच्छी और उपयोगी बात भी कहता है तो लोग उसे मजाक में लेते हैं और उसकी हंसी उड़ाते हैं। निर्धन व्यक्ति की भी बात को किसी योग्य नहीं समझा जाता। । 294 ।

॥ अधनः स्वभार्ययाऽप्यवमन्यते ॥

निर्धन व्यक्ति की पत्नी भी उसका अपमान कर बैठती है।

मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह घर के कार्यों को चलाने के लिए आलस्य रहित होकर वैध उपायों द्वारा धन संग्रह करे। अन्यथा उसे अपनी भार्या तक से अपमानित होना

पड़ता है। । 295 ।

॥ पुष्पहीनं सहकारमपि नोपासते भ्रमराः ॥

जिस प्रकार भौरे बौर अथवा पुष्पकाल बीत जाने पर फूलों से रहित आम के वृक्ष को त्याग देते हैं, उसी प्रकार धन का उपासक संसार निर्धन व्यक्ति से अपनी इच्छा की पूर्ति न होते देख उसे त्याग देता है।

वस्तुतः यदि बुद्धिमान व्यक्ति निर्धन है तो यह उस समाज अथवा राष्ट्र का कर्तव्य है कि उसे उपेक्षित होने से बचाए। संसार में सभी को धन की जरूरत होती है परंतु जब लोग निर्धन व्यक्ति से किसी प्रकार की आशा पूर्ति होते नहीं देखते तो उसका त्याग कर देते हैं। ।

296 ।

॥ विद्या धनमधनानाम् ॥

विद्या ही निर्धन लोगों का धन है।

निर्धन व्यक्ति का सम्मान उसके ज्ञान के कारण होता है। निर्धन व्यक्ति यदि विद्वान् है तो वह आवश्यकतानुसार धन उपार्जन भी कर सकता है, इसलिए विद्या को निर्धनों का ऐसा धन माना जाता है जिससे उन्हें सम्मान प्राप्त होता है। । 297 ।

॥ विद्या चौरैरपि न ग्राह्या ॥

विद्या मनुष्य का एक ऐसा गुप्त धन है जिसे चोर भी नहीं चुरा सकते। इसीलिए विद्या रूपी धन को सभी धनों में श्रेष्ठ माना गया है। । 298 ।

॥ विद्यया ख्यापिता ख्यातिः ॥

विद्या से मनुष्य के यश का विस्तार होता है।

विद्वान् व्यक्ति जहां भी जाता है उसका सम्मान किया जाता है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश छिपा नहीं रह सकता, उसी प्रकार विद्वान् व्यक्ति की योग्यता भी अपने आप प्रकट हो जाती है। जिस प्रकार ज्ञानी मनुष्य सुपात्र व्यक्ति को दान करने से पुण्य और यश का भागी होता है, उसी प्रकार विद्वान् व्यक्ति भी विद्या का दान देकर निरंतर अपने यश में वृद्धि करता है। । 299 ।

॥ यशः शरीरं न विनश्यति ॥

मनुष्य की भौतिक देह तो मृत्यु को प्राप्त होती है परंतु उसका यश रूपी शरीर सदैव

अमर रहता है।

जिस व्यक्ति ने इस संसार में जन्म लिया है उसकी मृत्यु भी निश्चित है। परंतु जो व्यक्ति अपने कार्यों से, अपने सद्गुणों से, इस संसार में यश प्राप्त करते हैं वे सदैव अमर बने रहते हैं। उनकी मृत्यु के बरसों बाद भी लोग उनका नाम बड़ी श्रद्धा और भक्ति से लेते हैं। ।

300 ।

॥ यः परार्थमुपसर्पति स सत्पुरुषः ॥

जो मनुष्य दूसरों के परोपकार के लिए आगे बढ़ता है वही सज्जन पुरुष माना जाता है।

स्वार्थ तो इस संसार में सभी पूरा करते हैं, परंतु सज्जन पुरुष वही कहलाता है जो दूसरों के कष्ट को अपना समझकर उनका कल्याण करने के लिए आगे आता है अर्थात् जो व्यक्ति सबके कल्याण में अपना कल्याण समझता है, वही सत्पुरुष कहलाता है। । 301 ।

॥ इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम् ॥

शास्त्र के ज्ञान से ही इंद्रियों को शांत अथवा उन्हें अपने वश में रखा जा सकता है। । 302 ।

॥ अशास्त्रकार्यवृत्तौ शास्त्रांकुशं निवारयति ॥

अवैध कार्यों के लिए उद्यत व्यक्ति को शास्त्र का अंकुश ही संयम में रखता है।

जब मनुष्य के मन में समाज के विरुद्ध कोई कार्य करने की भावना पैदा होती है तो शास्त्र का अंकुश ही उसे रोकने में समर्थ होता है अर्थात् जो व्यक्ति जितेंद्रिय होते हैं, जिन्होंने अपनी इंद्रियों को वश में किया हुआ है, वे ही उस अवैध कार्यों से बच सकते हैं। शास्त्रों में इंद्रिय निग्रह की बात कही गई है, जिन्हें शास्त्र का ज्ञान है वे पापाचरण से बच जाते हैं। ।

303 ।

॥ नीचस्य विद्या नोपेतव्या ॥

नीच पुरुष की विद्या की अवहेलना करनी चाहिए। । 304 ।

॥ म्लेच्छभाषणं न शिक्षेत् ॥

म्लेच्छों की भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

म्लेच्छ भाषा से चाणक्य का भाव अश्लील अथवा अशिष्ट भाषा से है अर्थात् मनुष्य

को अपनी बातचीत अथवा अपने भाषण में अशिष्ट भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अशिष्ट भाषा का प्रयोग करने वाले का समाज में अपमान ही होता है। । 305 ।

॥ म्लेच्छानामपि सुवृत्तं ग्राह्यम् ॥

म्लेच्छ व्यक्ति की अच्छी बातों को अपना लेना चाहिए।

यदि दुष्ट और अभद्र व्यक्ति कोई अच्छी बात कहता है तो उससे लाभ उठाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। यदि म्लेच्छ लोग किसी कारण वश संगठित होते हैं तो उससे सीख लेने में कोई हानि नहीं। । 306 ।

॥ गुणे न मत्सरः कर्त्तव्यः ॥

दूसरे के अच्छे गुणों से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।

प्रायः यह मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह अन्य व्यक्तियों के उत्कर्ष को देखकर उनसे ईर्ष्या करने लगता है। परंतु ईर्ष्या करने से कोई लाभ नहीं होता। इससे केवल व्यक्ति की असहिष्णु प्रवृत्ति का ही बोध होता है। । 307 ।

॥ शत्रोरपि सुगुणो ग्राह्यः ॥

शत्रु में यदि अच्छे गुण दिखाई दें तो उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए।

इस सूत्र से चाणक्य का भाव शत्रु के रण-कौशल से है। रण-कौशल के संबंध में यदि शत्रु में कोई विशेष बात दिखाई दे तो ग्रहण कर लेनी चाहिए। । 308 ।

॥ विषादप्यमृतं ग्राह्यम् ॥

विष में भी यदि अमृत हो तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।

जिस समय विष अमृत का काम करने लगे तो उसे विष न समझकर अमृत के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। विष वास्तव में प्रयोग करने वाले के चातुर्य से अमृत बन जाता है। । 309 ।

॥ अवस्थया पुरुषः सम्मान्यते ॥

परिस्थितियां पैदा करने से ही व्यक्ति सम्मान का अधिकारी बनता है।

राजा के सम्मान पाने की एक अवस्था है। राजा अपनी शासन-व्यवस्था में प्रजा से सम्मानित होने योग्य परिस्थिति पैदा करके ही प्रजा से राजभक्ति या सम्मान पाने की आशा कर सकता है। जब तक राज्यसंस्था अपने को प्रजाहित के अनुकूल नहीं बना लेती, तब तक

उसे सम्मान प्राप्त नहीं होता। । 310 ।

॥ स्थान एव नराः पूज्यन्ते ॥

अपने स्थान पर बने रहने से ही व्यक्ति को सम्मान मिलता है।

व्यक्ति की अपने प्रभाव क्षेत्र में ही पूजा होती है। भाव यह है कि व्यक्ति जिस क्षेत्र में काम करता है, उस क्षेत्र के लोग उसकी योग्यता से परिचित होते हैं। वे उसके गुणों और उसके स्वभाव से भी भली प्रकार परिचित होने के कारण ही उसका सम्मान करते हैं। । 311 ।

॥ आर्यवृत्तमनुतिष्ठेत् ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह सदा आर्यों (श्रेष्ठ पुरुषों) के आचरण का अनुसरण करे।

मनुष्य को चाहिए कि वह समाज में अपना सम्मान बनाए रखने के लिए सदा नम्रता और धर्म के अनुसार ही आचरण करे। श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण इस प्रकार का होता है कि वे नीतिपूर्वक सभ्य आचरण में ही विश्वास करते हैं। । 312 ।

॥ कदापि मर्यादां नातिक्रमेत् ॥

मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। प्रत्येक समाज की कुछ सीमाएं और मर्यादाएं होती हैं। व्यक्ति को चाहिए कि वह उन सीमाओं में रहते हुए ही आचरण करे। । 313 ।

॥ नास्त्यर्घः पुरुषरत्नस्य ॥

विद्वान् और गुणी व्यक्ति किसी भी राष्ट्र और समाज के लिए अमूल्य रत्न होते हैं।

किसी भी क्षेत्र में की गई उनकी सेवाओं और कार्यों का राष्ट्र के लिए बहुत महत्त्व होता है। इस प्रकार के पुरुष-रत्न समाज में बहुत कम होते हैं परंतु ऐसे व्यक्तियों की न तो किसी चीज से उपमा दी जा सकती है और न उनका मूल्य ही आंका जा सकता है। । 314 ।

॥ न स्त्रीरत्नसमं रत्नम् ॥

स्त्री-रत्न से बढ़कर कोई दूसरा अमूल्य रत्न नहीं है।

सच्चरित्र पतिव्रता स्त्री किसी परिवार के लिए सम्मान का कारण होती है। स्त्रियों का सम्मान राष्ट्र का सम्मान माना जाता है। स्त्री को लक्ष्मी के रूप में प्राचीन ग्रन्थों में सुचारित

किया गया है। परिवार के अतिरिक्त देश के निर्माण में भी स्त्रियों का बहुत बड़ा हाथ होता है। अपने उत्तरदायित्व को निभाने वाली स्त्री की उपमा रत्न से दी गई है। । 315 ।

॥ सुदुर्लभं रत्नम् ॥

संसार में रत्नों की प्राप्ति बहुत कठिन है।

संदर्भ के अनुसार गुणवान महिलाओं और पुरुषों का जिस समाज में अभाव होता है, उसे दुर्भाग्य समझना चाहिए। रत्न उसे कहा जाता है जिसमें सौंदर्य हो, तेज हो, चित्ताकर्षण हो। इसी प्रकार समाज को अलंकृत करनेवाले अथवा समाज की शोभा बढ़ाने वाले स्त्री और पुरुषों को रत्न कहा जाता है। इसी प्रकार के रत्नों से समाज की शोभा बढ़ती है। । 316 ।

॥ अयशो भयं भयेषु ॥

सभी प्रकार के भय से अपयश अर्थात् बदनामी का भय सबसे बड़ा होता है।

सभ्य और सज्जन पुरुष सदा इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनसे कोई ऐसा कार्य न हो जाए जिससे उनकी निंदा हो। सज्जन व्यक्तियों के लिए उनकी निंदा अथवा लोगों के मन में उनके आचरण के प्रति संदेह पैदा होना उनके लिए मृत्यु के समान होता है। । 317 ।

॥ नास्त्यलसस्य शास्त्राधिगमः ॥

आलसी पुरुष को कभी भी शास्त्र का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

आलसी व्यक्ति विद्या प्राप्त नहीं कर सकता। भारतीय शास्त्रों में अनेक स्थानों पर कहा गया है कि शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने वाले को सुखभोग की इच्छा त्याग देनी चाहिए और उसे आलस्य से दूर रहना चाहिए। आलसी अपने परिवार के लिए भी दुःख देने वाला सिद्ध होता है। । 318 ।

॥ न स्त्रैणस्य स्वर्गाप्तिर्धर्मकृत्यं च ॥

स्त्री में आसक्त पुरुष को न तो स्वर्ग मिलता है और न उसके द्वारा कोई धर्म कार्य हो पाता है।

जो व्यक्ति इंद्रियों को वश में नहीं रख सकता, वह सदैव दुःखी रहता है। उसके लिए मानवोचित कर्तव्य पालन करना भी कठिन होता है। उसे शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक किसी भी प्रकार का सुख प्राप्त नहीं हो सकता और वह समय से पूर्व ही बूढ़ा हो जाता है। । 319 ।

॥ स्त्रियोऽपि स्त्रैणमवमन्यन्ते ॥

स्त्रियां भी स्त्रैण पुरुष का अपमान कर देती हैं।

मनुष्य की अपनी पत्नी भी उसके इस स्वभाव के कारण उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। । 320 ।

॥ न पुष्पार्थी सिंचति शुष्कतरुम् ॥

फूलों का इच्छुक व्यक्ति कभी सूखे पेड़ को नहीं सींचता।

मनुष्यों को अपने ध्येय के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। जो व्यक्ति अपने ध्येय से विचलित हो जाता है, वह कहीं का नहीं रहता। न उसका जीवन सफल होता है और न उसको समाज में सम्मान मिलता है।

जिस प्रकार फूलों की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति सूखे पौधों को नहीं सींचते उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपने ध्येय के अनुसार कार्य करना चाहिए। । 321 ।

॥ अद्रव्यप्रयत्नो बालुकाक्वाथनादनन्यः ॥

बिना किसी कारण से व्यर्थ परिश्रम करना और धन प्राप्ति की इच्छा रखना बिलकुल ऐसी ही बात है जैसे बालू से तेल निकालने का प्रयत्न करना।

धन की प्राप्ति के लिए मनुष्य को भ्रान्त धारणाओं में पड़कर ऐसे उपाय नहीं करने चाहिए जिनसे धन की प्राप्ति न हो। धन की प्राप्ति एक निश्चित ध्येय को सामने रखकर निष्ठापूर्वक कार्य करने से होती है। आलस्य में पड़े रहकर शेख-चिल्लियों की तरह भ्रांत धारणाओं से धन की प्राप्ति नहीं हो सकती। । 322 ।

॥ न महाजनहासः कर्तव्यः ॥

महान् पुरुषों का उपहास नहीं करना चाहिए।

सीधे-सादे सत्यनिष्ठ व्यक्तियों का मजाक उड़ाने से उनकी कोई हानि नहीं होती बल्कि व्यक्ति का अपना ही छोटापन जाहिर होता है। उनका उपहास करना बिलकुल वैसा ही है जैसे चांद पर थूकने का प्रयत्न करना। । 323 ।

॥ कार्यसम्पदं निमित्तानि सूचयन्ति ॥

किसी कार्य के लक्षण ही उसकी सिद्धि या असिद्धि की सूचना दे देते हैं।

व्यक्ति जब कोई कार्य प्रारम्भ करता है, उस समय किस प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं, इस बात से ही पता चलता है कि कार्य में सफलता प्राप्त होगी या असफलता। कोई कार्य प्रारंभ करते समय मनुष्य के मन में एक प्रकार का उत्साह होता है। यदि कार्य करते समय

वह उत्साह बना रहता है तो लक्षण कार्य सिद्धि के होते हैं। यदि मनुष्य के मन में उत्साह उत्पन्न नहीं होता तो कार्य सिद्धि होने में संदेह रहता है। । 324 ।

॥ नक्षत्रादपि निमित्तानि विशेषयन्ति ॥

इसी प्रकार नक्षत्रों से भी किसी कार्य के सिद्धि होने की सूचना मिल जाती है।

प्रायः कोई कार्य प्रारंभ करते समय नक्षत्रों की गतिविधियों के आधार पर शुभ मुहूर्त निकाला जाता है। अच्छा समय देखकर कार्य प्रारम्भ करना बुद्धिमत्ता की बात हो सकती है। परंतु उस कार्य की सफलता तभी निश्चित होती है जब मनुष्य के मन में इस कार्य की सिद्धि के प्रति कोई संदेह न हो।

इसलिए व्यक्ति को कर्तव्य-पालन में विलंब नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे शुभ मुहूर्त के नष्ट होने की संभावना रहती है। । 325 ।

॥ न त्वरितस्य नक्षत्रपरीक्षा ॥

अपने कार्य की सिद्धि चाहनेवाला व्यक्ति नक्षत्रों की गणना पर अपने भाग्य की परीक्षा नहीं करता।

जो व्यक्ति अपने कार्य को शीघ्र ही सफल होता देखना चाहता है, वह नक्षत्रों के चक्कर में नहीं पड़ता। वह अपने आत्म-विश्वास और कार्यसिद्धि के लिए किए जाने वाले उपायों पर दृष्टि रखता है। । 326 ।

॥ परिचये दोषा न छाद्यन्ते ॥

किसी से परिचय हो जाने के बाद उसके दोष छिपे नहीं रहते।

मनुष्य जिससे पूर्णतया परिचित हो जाता है उसके सभी गुण और दोष व्यक्ति पर प्रकट हो जाते हैं। किसी व्यक्ति के दोषों का ज्ञान मनुष्य को तभी होता है जब वह उसके अत्यन्त निकट आता है। । 327 ।

॥ स्वयमशुद्धः परानाशंकते ॥

बुरे विचारों वाला व्यक्ति दूसरों पर भी बुरा होने का संदेह करता है।

जो व्यक्ति अपने आचरण से भ्रष्ट हैं, वे संसार में किसी भी व्यक्ति को शुद्ध आचरण वाला नहीं मानते। वे प्रत्येक को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। । 328 ।

॥ स्वभावो दुरतिक्रमः ॥

स्वभाव को बदलना बहुत कठिन कार्य होता है।

मनुष्य का मन ज्ञान अथवा अज्ञान दोनों में से किसी एक स्थिति को अपना लेता है। इस प्रकार वह उसका स्वभाव बन जाता है। स्वभाव के अनुसार वह आचरण करता है। जिस व्यक्ति की प्रवृत्ति शुभ कर्मों में है, उसे एकदम बदलना कठिन होता है। परंतु अधिकांश मनुष्य अपने अज्ञान के कारण निकृष्ट कार्यों की ओर जल्दी प्रवृत्त हो जाते हैं। परंतु जब वे एक ही प्रकार के कार्यों को बार-बार करते हैं तो उनके स्वभाव को बदलना कठिन हो जाता है। एक सामान्य कहावत है कि चोर यदि चोरी छोड़ भी देता है तो हेरा-फेरी छोड़ना उसके लिए कठिन होता है। । 329 ।

॥ अपराधानुरूपो दण्डः ॥

अपराध के अनुरूप ही दंड देना चाहिए।

अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार ही दंड देना शासन का कर्तव्य होता है। इससे जनता में सुरक्षा की भावना बढ़ती है। दंड के भय के कारण ही कहा गया है कि वह सोते हुए भी जागता है अर्थात् दण्ड अपने स्थान पर सदैव स्थिर रहता है। इसी से प्रजा में शासन-व्यवस्था स्थिर रहती है। कहा भी है—दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ अर्थात् दंड राजधर्म का आवश्यक अंग है। । 330 ।

॥ कथानुरूपं प्रतिवचनम् ॥

प्रश्न के अनुरूप ही उत्तर देना चाहिए।

जिन लोगों पर विश्वास न हो, उनके प्रश्नों का उत्तर देते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि जो कुछ प्रश्न में पूछा गया है उसका उत्तर सीमित होना चाहिए। पूछा कुछ जाए और व्यक्ति इधर-उधर की हांकने लगे, ऐसे लोग मूर्ख कहलाते हैं। । 331 ।

॥ विभवानुरूपमाभरणम् ॥

अपनी धन-संपत्ति के अनुरूप ही व्यक्ति को आभूषण धारण करने चाहिए।

मनुष्य को अपने शरीर की सजावट अथवा वेशभूषा अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप सीमित रखनी चाहिए। अपनी स्थिति से बाहर जाकर शरीर को सजाने से मनुष्य के सम्मान में वृद्धि नहीं होती।

मनुष्य को अपनी वेशभूषा देशकाल के अनुसार रखनी चाहिए। कहा भी गया है कि —‘ताते पैर पसारिए जाती लम्बी सौर।’ । 332 ।

॥ कुलानुरूपं वृत्तम् ॥

अपने कुल की मर्यादा के अनुसार ही व्यक्ति को कार्य करना चाहिए।

व्यक्ति का आचरण इस प्रकार का होना चाहिए जिससे कुल की मर्यादा को ठेस न पहुंचे। कुल की मर्यादा में व्यक्ति के आचरण के साथ-साथ उसका व्यवसाय भी आता है। इसलिए व्यक्ति का कर्तव्य यह है कि वह कोई ऐसा व्यवसाय न अपनाये अथवा कोई ऐसा आचरण न करे जिससे उसके कुल की मर्यादा को हानि पहुंचती हो। । 333 ।

॥ कार्यानुरूपः प्रयत्नः ॥

जैसा कार्य हो, प्रयत्न भी उसी के अनुसार करना चाहिए।

कार्य प्रारंभ करने से पूर्व उचित समय, सहायक, अनुकूल परिस्थितियां, धन आदि साधन और अपने उत्साह के संबंध में व्यक्ति को परिचित होना चाहिए। । 334 ।

॥ पात्रानुरूपं दानम् ॥

पात्र के अनुसार ही दान देना चाहिए।

दान देने से पहले इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि जिसे दान दिया जा रहा है, वह उसके योग्य भी है अथवा नहीं। उसकी योग्यता के अनुसार ही दान की मात्रा निर्धारित करनी चाहिए। । 335 ।

॥ वयोऽनुरूपो वेशः ॥

व्यक्ति को अपनी आयु के अनुसार ही वेश धारण करना चाहिए। । 336 ।

॥ स्वाम्यनुकूलो भूत्यः ॥

स्वामी के अनुसार ही सेवक को कार्य करना चाहिए।

सेवक का कर्तव्य है कि वह स्वामी की इच्छा के अनुकूल आचरण करनेवाला हो। सेवक को अपने स्वामी के विचारों, समाज में उसकी स्थिति आदि को समझकर उसके अनुसार ही आचरण करना चाहिए। उसे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे स्वामी का अनादर हो। । 337 ।

॥ भर्तृवशवर्तिनी भार्या ॥

पति के वश में रहनेवाली पत्नी ही भरण-पोषण की अधिकारिणी होती है।

गृहस्थ रूपी रथ को चलाने के लिए पति और पत्नी दो पहियों के समान होते हैं। दोनों का पारस्परिक तालमेल आवश्यक है। दोनों की पारस्परिक एकता तभी संभव है, जब दोनों के जीवन का लक्ष्य एक जैसा हो, दोनों के विचार एक समान हों। विचारों में समानता न होने के कारण कलह उत्पन्न होने लगता है। इसलिए दोनों में अनुकूलता होना गृहस्थ के कल्याण के लिए आवश्यक है। । 338 ।

॥ गुरुवशानुवर्ती शिष्यः ॥

शिष्य को सदा गुरु की इच्छा के अधीन रहकर कार्य करना चाहिए।

जब गुरु शिष्य को शिक्षित करने के लिए अपने अधीन लेता है तो इसे शिष्य का दूसरा जन्म माना जाता है। क्योंकि गुरु ही शिष्य को सब प्रकार की विद्याओं का ज्ञान देता है जिससे शिष्य के ज्ञान-चक्षु खुलते हैं और एक सामाजिक परंपरा बनी रहती है। गुरु के बिना व्यक्ति का कल्याण नहीं हो सकता। जीवन में अपने कर्तव्यों को सही ढंग से पूरा करने के लिए गुरु से ही ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु की इच्छा के अनुसार ही कार्य करे। । 339 ।

॥ पितृवशानुवर्ती पुत्रः ॥

पुत्र को पिता की इच्छा के अनुसार चलनेवाला होना चाहिए।

पुत्र का कर्तव्य है कि पिता के अनुभवों से लाभ उठाए। पिता की आज्ञा के अनुसार कार्य करने से ही वह पिता की संपत्ति का अधिकारी हो जाता है। परिवार में सुख और शांति बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है कि पुत्र पिता की आज्ञा के अनुरूप ही कार्य करे। । 340 ।

॥ अत्युपचारः शंकितव्यः ॥

अत्यधिक आदर से शंका उत्पन्न होती है।

यदि कोई व्यक्ति आगंतुक की स्थिति से अधिक आदर सम्मान करता है तो इससे व्यक्ति के मन में संदेह उत्पन्न हो सकता है।

इसका कारण यह हो सकता है कि स्वागत-सत्कार करनेवाला व्यक्ति उस पर किसी अनुचित कार्य का दबाव डालना चाहता हो। । 341 ।

॥ स्वामिनि कुपिते स्वामिनमेवानुवर्तेत ॥

स्वामी के क्रुद्ध होने पर सेवक को स्वामी की आज्ञा के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।

यदि स्वामी किसी कारण वश सेवक से क्रुद्ध है तो सेवक को चाहिए कि वह अपने स्वामी के प्रति क्रोध न प्रकट करके अपनी भूल को सुधारने का प्रयत्न करे। सेवक का स्वामी के प्रति क्रोध करना अनुचित और हानिप्रद होता है। । 342 ।

॥ मातृताडितो वत्सो मातरमेवानुरोदिति ॥

माता के द्वारा ताड़ित किया गया बच्चा माता के पास जाकर ही रोता है।

जब माता अपने बच्चे को उसकी किसी भूल के कारण दण्ड देती है तो बच्चा अपने स्वभाव के अनुसार माता के पास जाकर ही रोकर अपना दुःख प्रकट करता है। इसी प्रकार मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि उसे अपने हितैषियों, अपने संबंधियों तथा गुरुओं के कुपित हो जाने पर भी उन्हें त्यागना नहीं चाहिए। अपनी त्रुटियों का सुधार करके उन्हें अपनी ओर से प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। । 343 ।

॥ स्नेहवतः स्वल्पो हि रोषः ॥

स्नेह करने वाले व्यक्तियों का क्रोध क्षणिक और अनिष्टरहित होता है।

भला चाहने वाले व्यक्ति किसी कारण से यदि क्रुद्ध होते हैं तो उसके पीछे अनिष्ट करने की भावना नहीं होती। माता-पिता, गुरु, संबंधी आदि लोगों का क्रोध थोड़ी देर के लिए होता है। वे थोड़ी-सी देर में प्रसन्न हो जाते हैं। । 344 ।

॥ आत्मच्छिद्रं न पश्यति परच्छिद्रमेव पश्यति बालिशः ॥

मूर्ख व्यक्ति अपने दोषों को न देखकर दूसरों के दोषों को देखता है।

मूर्ख मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि वह अपने अवगुणों को न देखकर दूसरे व्यक्तियों में दोष ढूंढने का प्रयत्न करता है। वह अपने को अपराधी न मानकर दूसरे के अपराधों और उनके दोषों को ही खोजता रहता है। मूर्ख व्यक्ति का यह स्वभाव होता है। उसे अपनी आंख का शहतीर दिखाई नहीं देता जबकि दूसरों की आंख का तिनका वह बड़ी सरलता से देख लेता है। । 345 ।

॥ सोपचारः कैतवः ॥

धूर्त लोग दूसरों के पर बल बना करते हैं अर्थात् आत्म-प्रदर्शन करते हैं।

धूर्त लोग दूसरों की कपट सेवा से कोई भेद जानना चाहते हैं। धूर्त लोग जिनका भेद जानना चाहते हैं उन्हें अपनी सेवा द्वारा अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं। । 346 ।

॥ काम्यैर्विशेषैरुपचरणमुपचारः ॥

किसी विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए जो सेवा की जाती है उसे उपचार कहते हैं।

उपचार का अर्थ दवा-दारू अथवा सेवा करना भी होता है। इस संदर्भ में यहां अपनी किसी विशेष इच्छा के कारण किसी दूसरे व्यक्ति की जो सेवा की जाती है, उसको भी उपचार कहते हैं। बहुत से लोग किसी का भेद जानने के लिए गुप्तचर के रूप में कार्य करते हैं। । 347 ।

॥ चिरपरिचितानामत्युपचारः शंकितव्यः ॥

अत्यधिक परिचित व्यक्तियों की अनुचित सेवा से मन में संशय पैदा होता है।

जिस व्यक्ति से काफी घनिष्ठ परिचय हो, यदि किसी दिन उसकी सेवा में अत्यधिक रुचि दिखाई देती है तो इसे शंका की दृष्टि से देखा जाता है। इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि इसे किसी विशेष प्रकार की कार्य पूर्ति की इच्छा है। अत्यन्त परिचित व्यक्ति से जो भी काम लेना हो उससे स्पष्ट बात करनी चाहिए। अपने आदर-सत्कार से उसके मन में संदेह पैदा करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। । 348 ।

॥ गौर्दुष्करा श्वसहस्रादेकाकिनी श्रेयसी ॥

एक साधारण गाय भी सौ कुत्तों से अधिक श्रेष्ठ होती है।

जिस प्रकार दूध न देने वाली गाय भी सौ कुत्तों से अधिक उपकार करने वाली मानी जाती है, उसी प्रकार उपकारी व्यक्ति उपकार न करने वाले सहस्रों परिचित ठगों से श्रेष्ठ होता है। । 349 ।

॥ श्वो मयूरादद्य कपोतो वरः ॥

कल मिलनेवाले मोर की अपेक्षा आज मिलनेवाला कबूतर अधिक अच्छा है।

वर्तमान की सामान्य स्थिति की उपेक्षा करके कल प्राप्त होनेवाली बड़ी आशा के भरोसे नहीं रहना चाहिए। आकाश में बादलों को घिरा देखकर अपने घर का घड़ा फोड़ देना मूर्खता है। । 350 ।

॥ अतिप्रसंगो दोषमुत्पादयति ॥

अत्यधिक साहस अथवा अनैतिकता से बुराई पैदा होती है।

कुछ सूत्रों में 'अतिप्रसंगों' के स्थान पर 'अतिसंगो' भी दिया है। 'अतिप्रसंगों' का अर्थ अनैतिकता माना जाता है और 'अतिसंगो' का अर्थ किसी से अधिक जान-पहचान होना किया जाता है।

दोनों दृष्टियों से यह बात उचित है क्योंकि जिस व्यक्ति से अधिक परिचय होगा उससे किसी-न-किसी प्रकार का दोष उत्पन्न होने का भय बना रहेगा। अनैतिकता तो अपने आप में बुराई है। । 351 ।

॥ सर्व जयत्यक्रोधः ॥

क्रोधहीन व्यक्ति सबको अपना बना लेता है, अर्थात् वह अपने स्वभाव के कारण विश्वविजयी बन जाता है। । 352 ।

॥ यद्यपकारिणि कोपः कोपे कोप एव कर्त्तव्यः ॥

यदि बुराई करनेवाले व्यक्ति पर क्रोध करना ही हो तो पहले अपने क्रोध पर ही क्रोध करना चाहिए।

भावार्थ यह है कि अपनी उन्नति चाहनेवाले व्यक्तियों को क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि क्रोध करना ही हो तो पहले उसे अपने क्रोध पर क्रोध करना चाहिए कि वह इस प्रकार के विचार में कैसे फंसा। क्रोध से मनुष्य की विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है और वह अनुचित कार्य कर बैठता है। । 353 ।

॥ मतिमत्सु मूर्ख मित्र गुरु वल्लभेषु विवादो न कर्त्तव्यः ॥

बुद्धिमान मनुष्य को मूर्ख, मित्र, गुरु और अपने प्रियजनों के साथ व्यर्थ का विवाद नहीं करना चाहिए। । 354 ।

॥ नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम् ॥

ऐश्वर्य पैशाचिकता से रहित नहीं होता।

जिन लोगों के पास ऐश्वर्य के साधन होते हैं, वे बड़ी सरलता से पैशाचिकता की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। जिन ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों में धर्म-कर्म का अभाव होता है, उनमें बुरी प्रवृत्तियां सरलतापूर्वक घर कर जाती हैं। इसलिए मनुष्य का प्रयत्न होना चाहिए कि वह राक्षसी प्रवृत्तियों से बचता रहे तथा धन-संपत्ति और ऐश्वर्य आदि को समाज के कार्यों के लिए प्रयोग में लाए। । 355 ।

॥ नास्ति धनवतां सुकर्मसु श्रमः ॥

धनवान् व्यक्तियों को शुभ कार्यों को करने में विशेष श्रम नहीं करना पड़ता।

चाणक्य ने अनेक सूत्रों में धर्म-कर्म के लिए धन की आवश्यकता पर बल दिया है।

इसलिए धनी व्यक्ति के लिए कोई भी कार्य करना कठिन नहीं होता। परंतु जो केवल धन की ही उपासना करते हैं अर्थात् हर समय और अधिक धन जोड़ने की इच्छा रखते हैं उनकी प्रवृत्ति अच्छे कार्यों को करने की ओर नहीं जाती। । 356 ।

॥ नास्ति गतिश्रमो यानवताम् ॥

वाहन पर यात्रा करने वाले व्यक्ति को थकावट अनुभव नहीं होती।

जो व्यक्ति यान अथवा किसी वाहन पर यात्रा करते हैं, उन पर यात्रा के श्रम का प्रभाव नहीं पड़ता। उन्हें अधिक थकावट नहीं होती।

चाणक्य ने एक पूर्व सूत्र में कहा कि जो व्यक्ति अधिक पैदल यात्रा करते हैं, वे जल्दी बूढ़े हो जाते हैं। अधिक यात्रा वाहन द्वारा ही करनी चाहिए। । 357 ।

॥ अलोहमयं निगडं कलत्रम् ॥

स्त्री बिना लोहे की बेड़ी है।

पत्नी पति के लिए बिना लोहे की ऐसी बेड़ी है जिसे वह सहमति से स्वीकार करता है। इसका अर्थ यह है कि विवाह प्रथा स्वेच्छा से अपने पर लागू किया गया ऐसा धर्म-बंधन है जिससे स्वतः ही अनुचित कार्यों पर रोक लगती है। । 358 ।

॥ यो यस्मिन् कुशलः स तस्मिन् योक्तव्यः ॥

जो मनुष्य जिस कार्य में पूर्णतः निपुण हो, उसको उसी कार्य में नियुक्त करना चाहिए। किसी कार्य में नियुक्ति की योग्यता का मापदंड यही होना चाहिए कि व्यक्ति जो कार्य भली

प्रकार जानता हो, उसकी नियुक्ति उसी काम के लिए होनी चाहिए अर्थात् व्यक्ति को वही काम प्रारंभ करना चाहिए जिसे वह भली प्रकार जानता हो। यदि वह अपरिचित कार्य में हाथ डालेगा तो उसे हानि उठानी पड़ेगी। । 359 ।

॥ दुष्कलत्रं मनस्विनां शरीरकर्शनम् ॥

दुष्ट स्त्री अथवा पत्नी मनस्वी व्यक्ति के शरीर को दुर्बल बना देती है।

अर्थात् यदि पत्नी अच्छे विचारों की न हो तो मनस्वी लोग ऐसी स्त्रियों को दुःख का कारण मानते हैं। । 360 ।

॥ अप्रमत्तो दारान् निरीक्षेत् ॥

आलस्यरहित होकर सदा स्त्री का निरीक्षण करना चाहिए।

मनुष्य को आलस्य का त्याग करके ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसकी पत्नी बुरे मार्ग पर न जा सके। इसलिए सदैव उसकी देख-रेख करते रहना चाहिए। परंतु ऐसा काम वह पति ही कर सकता है जो प्रमादरहित हो। । 361 ।

॥ स्त्रीषु किंचिदपि न विश्वसेत् ॥

स्त्रियों पर किंचित् मात्र भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह सूत्र स्त्री मात्र के लिए नहीं कहा गया। बल्कि चाणक्य का भाव यह है कि स्त्री जाति को शिक्षित करना आवश्यक है। इतने पर भी भूल तो सभी शरीरधारियों से होती है। परंतु स्त्रियां कुछ बातें बिना सोचे-विचारे कर बैठती हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां सीता जैसी महिलाओं ने लक्ष्मण रेखा जैसी मर्यादा का उल्लंघन करके अनेक प्रकार के कष्ट उठाए। परंतु गृहस्थ धर्म आपसी विश्वास के बिना नहीं चल सकता। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह बड़ी सूझबूझ के साथ स्त्रियों के साथ व्यवहार करे। । 362 ।

॥ न समाधिः स्त्रीषु लोकज्ञता च ॥

स्त्रियों में विवेक और लोक-व्यवहार की कमी होती है।

स्त्रियों का स्वभाव चंचल होता है। चंचल स्वभाववाला व्यक्ति कई बार परिवार के लिए भी हानि का कारण बन जाता है। इसके अतिरिक्त स्वार्थ के कारण बहुत से व्यक्ति लोक-व्यवहार से भी परिचित नहीं होते। वस्तुतः जो समाज पूर्णतः शिक्षित न हो उसमें महिलाओं को समानता के अवसर प्राप्त नहीं होते। परंतु अब सभी देशों में स्त्रियों को शिक्षित करने का प्रयत्न किया जा रहा है और उन्होंने एक सम्मानपूर्ण स्थान भी बना लिया है। इसलिए इस प्रकार की बातें केवल अशिक्षित महिलाओं के संबंध में कही जा सकती हैं। । 363 ।

॥ गुरूणां माता गरीयसी ॥

गुरुजनों में माता का स्थान सर्वोच्च होता है।

जो समाज मातृ-जाति को अज्ञान के अंधकार में रखता है, उससे वह स्वयं ही रोगग्रस्त हो जाता है। पुरुष जाति पर यह उत्तरदायित्व है कि वह मातृ जाति को उचित गौरवमय स्थान देकर स्वयं उन्नत हो। आचार्य का पद उपाध्याय से दस गुणा ऊंचा है। पिता का पद आचार्य से सौ गुणा ऊंचा है। माता का पद तो गौरव की दृष्टि से पिता से सहस्रों गुणा ऊंचा है। अतः माता सम्मान के योग्य है। । 364 ।

॥ सर्वावस्थासु माता भर्तव्या ॥

प्रत्येक अवस्था में माता का भरण-पोषण करना चाहिए।

माता मनुष्य को जन्म देनेवाली होती है, इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह हर प्रकार से प्रत्येक स्थिति में माता का सम्मान करे और उसके भरण-पोषण का ध्यान रखे। । 365 ।

॥ वैदुष्यमलंकारेणाच्छाद्यते ॥

बनावटीपन से पांडित्य पर पर्दा पड़ जाता है अर्थात् बनावटीपन से मनुष्य के पांडित्य को हानि पहुंचती है।

विद्वान् लोग अपने शरीर को सजाने के लिए उतना ध्यान नहीं देते जितना अपने विचारों को ऊंचा बनाने का प्रयत्न करते हैं। अपने शरीर को सजाने का एक घटिया प्रकार बनावटीपन है, इसे विद्वत्ता विरोधी आचरण भी कहा जा सकता है परंतु इसका यह भाव नहीं कि मनुष्य अपने शरीर को सही स्थिति में रखने का प्रयत्न न करे। । 366 ।

॥ स्त्रीणां भूषणं लज्जा ॥

लज्जा ही स्त्रियों का भूषण (गहना) है। । 367 ।

॥ विप्राणां भूषणं वेदः ॥

ज्ञान ही ब्राह्मणों का आभूषण है। । 368 ।

॥ सर्वेषां भूषणं धर्मः ॥

सभी व्यक्तियों का आभूषण धर्म है।

जो व्यक्ति धर्म से रहित है, सत्यनिष्ठा से दूर है और जिसे अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं, वह अपने शरीर को कितना भी सजाए, संवारे इसका कोई लाभ नहीं। । 369 ।

॥ भूषणानां भूषणं सविनया विद्या ॥

विनयसंपन्न विद्या समस्त आभूषणों का आभूषण है।

विद्वान् व्यक्ति यदि नम्रता से युक्त हो तो उसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अधिकांश लोगों को अपने गुणों के कारण अहंकार हो जाता है और वे विनम्र नहीं रह पाते।

इसलिए मनुष्यों को ऐसे ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए जिससे वे नम्र,

सुशील और व्यवहार-कुशल बन सकें। नम्र बनानेवाली विद्या ही मनुष्य का सबसे बड़ा आभूषण है। । 370 ।

॥ अनुपद्रवं देशमावसेत् ॥

जिस देश में उपद्रव होते रहते हों वहां रहना उचित नहीं। । 371 ।

॥ साधुजनबहुलो देशः ॥

जिस देश में सज्जन पुरुषों का निवास हो वहीं बसना चाहिए।

वस्तुतः वही राष्ट्र रहने के योग्य होता है जहां अधिकांश लोगों का सत्य, कानून और लोक-मर्यादा में विश्वास हो अर्थात् उसी देश में रहना चाहिए जहां कानून और व्यवस्था का पालन करनेवाले लोग रहते हों। । 372 ।

॥ राज्ञो भेतव्यं सार्वकालम् ॥

राजा अथवा शासन से सदैव डरकर रहना चाहिए।

मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह राजा अथवा प्रशासन के क्रोध का पात्र न बने। ऐसा तभी हो सकता है जब राज्य के नियमों का निष्ठापूर्वक पालन किया जाए। । 373 ।

॥ न राज्ञः परं दैवतम् ॥

राजा से बड़ा कोई देवता नहीं।

देवता उसे कहा जाता है जो धर्म का पालन करता और करवाता है। देश भर में धर्म का पालन राज्य के नियमों के भय के कारण ही होता है। इसलिए राजा को राष्ट्र का देवता कहा जाता है। उसके पास शक्ति और अधिकार होने से उसके महत्त्व में और भी वृद्धि होती है। । 374 ।

॥ सुदूरमपि दहति राजवह्निः ॥

राजा की क्रोधाग्नि राज्य के सुदूर कोने में पहुंचकर भी देशद्रोही को दग्ध (भस्म) करने में समर्थ होती है।

राजा अथवा प्रशासन की शक्ति अपने देश में व्यापक होती है। इसलिए सदैव राज्य के नियमों का पालन करना चाहिए अन्यथा राजा अथवा राज्य के नियमों के अनुसार राजद्रोहियों का सफाया कर दिया जाता है। । 375 ।

॥ रिक्तहस्तो न राजानमभिगच्छेत् ॥

राजा, देवता अथवा गुरु के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए।

राजा, देव अथवा गुरु के पास जाते समय व्यक्ति को खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। समाज की ऐसी मर्यादा है कि जब कोई व्यक्ति किसी महान् पुरुष के पास जाता है तो कुछ-न-कुछ भेंट करने के लिए अवश्य अपने साथ ले जाता है। वर्तमान समाज की परंपरा है कि देश के किसी बड़े नेता अथवा सज्जन पुरुष के सम्मान के लिए उसके पास पहुंचकर पुष्प भेंट किए जाते हैं। । 376 ।

॥ गुरुं च दैवं च ॥

गुरु और देवता के पास भी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए।

गुरु मनुष्य को विद्या दान देता है और देवताओं के कारण धर्म में आस्था पैदा होती है। इसलिए इनके पास जाते समय भी श्रद्धा और भक्ति सूचक उपहार लेकर ही जाना चाहिए। । 377 ।

॥ कुटुम्बिनो भेतव्यम् ॥

राजा के परिवार से संबंध रखनेवाले व्यक्तियों से डरकर ही रहना चाहिए।

राजा के परिवार से संबद्ध लोगों का सत्कार करना चाहिए। कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे वे नाराज होकर द्वेष रखने लगें। । 378 ।

॥ गन्तव्यं च सदा राजकुलम् ॥

राजदरबार में सदैव जाते रहना चाहिए।

राजपरिवार अथवा राज्य दरबार में जाते रहने अथवा राज्यकुल के व्यक्तियों से मिलते रहने से प्रजा के हित के लिए किए जानेवाले कार्यों से व्यक्ति परिचित रहता है। इसी प्रकार वह उनसे लाभ भी उठा सकता है। । 379 ।

॥ राजपुरुषैः सम्बन्धं कुर्यात् ॥

राजपुरुषों से संबंध बनाए रखना चाहिए।

राज्य-प्रशासन से संबंध रखने वाले अधिकारियों अथवा राजपुरुषों के साथ परिचय रखना व्यक्ति के लिए लाभदायक होता है। इससे मनुष्य के अपने अनेक कार्य सिद्ध होते हैं। राजपुरुषों से संबंध रखने के कारण अन्य लोगों के कार्य भी करवाए जा सकते हैं। । 380 ।

॥ राजदासी न सेवितव्या ॥

राजा की विशेष दासी से किसी प्रकार का संबंध नहीं रखना चाहिए।

राजा की सेवा करनेवाली दासियों से प्रजा के लोगों को व्यक्तिगत संपर्क नहीं बनाना चाहिए। इससे राजा के रुष्ट होने की सम्भावना रहती है। इसलिए कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे राजा अप्रसन्न हो। । 381 ।

॥ न चक्षुषापि राजधनं निरीक्षेत् ॥

इसी सूत्र का दूसरा रूप इस प्रकार है 'न चक्षुषापि राजानं निरीक्षेत्।'

प्रथम सूत्र का अर्थ है कि राजा के धन की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखना चाहिए। द्वितीय सूत्र का अर्थ है कि राजा की ओर कभी सीधी आंख उठाकर नहीं देखना चाहिए।

व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि राज्य से संबंधित धन की ओर कभी आंख उठाकर भी न देखे। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि राज्य की ओर से जो कर आदि लगाए जाएं उनकी निश्चित अदायगी होती रहनी चाहिए। । 382 ।

॥ पुत्रे गुणवति कुटुम्बिनः स्वर्गः ॥

गुणवान् पुत्र से परिवार स्वर्ग बन जाता है।

स्वर्ग-प्राप्ति का अर्थ है सुखों की प्राप्ति होना। पिता के लिए सबसे बड़ा सुख पुत्र का गुणवान और सदाचारी होना है। इससे परिवार में सुख और शांति के साथ-साथ समाज में सम्मान भी बढ़ता है। पुत्र का गुणवान् और सदाचारी होना पिता की शिक्षाओं पर ही निर्भर करता है। इसलिए पिता को चाहिए कि वह अपने पुत्र को विद्वान्, गुणवान् और सदाचारी बनाए। । 383 ।

॥ पुत्रा विद्यानां पारं गमयितव्याः ॥

पुत्र को सब विद्याओं में पारंगत बनाना चाहिए।

पिता का कर्त्तव्य है कि वह संतान को विद्वान् और गुणवान् बनाये। कहा गया है कि जो पिता अपनी संतान को शिक्षित नहीं बनाता, वह संतान का शत्रु होता है। वस्तुतः वह संतान का ही नहीं अपना भी शत्रु होता है। इसीलिए पिता का कर्त्तव्य है कि वह अपने पुत्रों को विद्याओं में पारंगत बनाये। । 384 ।

॥ जनपदार्थं ग्रामं त्यजेत् ॥

जिले के हित के लिए ग्राम के हित को त्याग देना चाहिए।

यदि ग्राम को त्याग देने से पूरे जिले का कल्याण होता है तो उसको छोड़ देने में कोई हानि नहीं। भावार्थ यह है कि अधिकांश लोगों के लाभ के लिए मनुष्यों को अपने छोटे स्वार्थ का परित्याग कर देना चाहिए। । 385 ।

॥ ग्रामार्थं कुटुम्बस्त्यज्यते ॥

ग्राम के हित के लिए परिवार के हित का बलिदान कर देना चाहिए।

यदि परिवार के किसी त्याग से ग्राम का भला होता है तो परिवार के स्वार्थ का बलिदान कर देना चाहिए। । 386 ।

॥ अतिलाभः पुत्रलाभः ॥

पुत्र की प्राप्ति सर्वश्रेष्ठ लाभ है।

परंतु वही पुत्र पिता और परिवार के लिए लाभ और प्रशंसा का कारण होता है जो गुणवान् होता है। इसीलिए गुणवान् पुत्र को ही पिता के लिए सर्वश्रेष्ठ लाभ माना गया है। । 387 ।

॥ प्रायेण हि पुत्राः पितरमनुवर्तन्ते ॥

प्रायः पुत्र पिता के जीवन के अनुरूप बन जाते हैं।

पुत्र पिता के आचरण से ही बहुत कुछ सीखता है। इसलिए पिता का कर्तव्य है कि वह पुत्र के सामने आदर्श उपस्थित करे। । 388 ।

॥ दुर्गतिः पितरौ रक्षति सपुत्रः ॥

पुत्र होने पर माता-पिता की दुर्गति नहीं होती।

जब माता-पिता बूढ़े हो जाते हैं तो पुत्र ही उनकी देखभाल करता है। वृद्ध लोग अनेक रोगों के शिकार भी हो जाते हैं, यदि कोई उनकी देख-रेख करनेवाला न हो तो उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। उस समय केवल सद्गुणी पुत्र ही माता-पिता का सहारा होता है। । 389 ।

॥ कुलं प्रख्यापयति पुत्रः ॥

सुपुत्र से ही कुल की ख्याति होती है।

सद्गुणी पुत्र ही कुल के सम्मान को बढ़ाता है। उसी के कारण वंश का मुख उज्ज्वल

होता है। इसीलिए गुणवान् पुत्र को कुल का दीपक कहा गया है। । 390 ।

॥ येन तत्कुलं प्रख्यातं सः पुरुषः ॥

जिस पुरुष के द्वारा कुल का गौरव बढ़े उसी को सच्चा पुरुष कहा जाता है।

सच्चे अर्थों में मनुष्य वही है जिससे कुल की शोभा बढ़ती है। कुल की ख्याति में चार चांद लगते हैं। । 391 ।

॥ नाऽनपत्यस्य स्वर्गः ॥

सुपुत्र के बिना स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती।

जिस परिवार में गुणवान् और बुद्धिमान पुत्र नहीं होता, वह परिवार सदैव दुखी रहता है। परिवार का सुख सुपुत्र होने से ही बढ़ता है। । 392 ।

॥ या प्रसूते (सा) भार्या ॥

संतान को जन्म देनेवाली स्त्री ही भार्या अर्थात् पत्नी कहलाती है।

अच्छी संतान को जन्म देनेवाली स्त्री को ही सच्ची भार्या अर्थात् पत्नी माना जाता है। अच्छी संतान की उत्पत्ति से ही भार्या होने की सफलता है। जो अच्छे पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकती उसे सच्ची पत्नी नहीं कहा जा सकता। । 393 ।

॥ सतीर्थाऽभिगमनाद् ब्रह्मचर्यं नश्यति ॥

एक ही गुरुकुल में पढ़नेवाले छात्र-छात्राओं का निकट संपर्क ब्रह्मचर्य का विनाशक है। । 394 ।

॥ पुत्रार्था हि स्त्रियः ॥

पुत्र प्राप्ति के लिए ही स्त्रियों का वरण किया जाता है।

पत्नी का सदुपयोग पुत्र प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए, विषयभोग की तृप्ति के लिए नहीं। परंतु जो लोग स्त्रियों को विषयभोग का साधन मान लेते हैं उनसे अच्छी संतान उत्पन्न होने की आशा नहीं की जा सकती। । 395 ।

॥ स्वदासीपरिग्रहो हि स्वदासभावः ॥

अपनी दासी के साथ परिग्रह करना अपने को दास बना लेना है।

जो व्यक्ति अपनी ही नौकरानियों को विषयभोग का साधन बना लेता है वह पतित होने के साथ-साथ स्वयं उनका दास बन जाता है। । 396 ।

॥ उपस्थितविनाशः पथ्यवाक्यं न शृणोति ॥

जिसका विनाश निकट होता है वह अपने हित की बात नहीं सुनता।

जब मनुष्य के दुर्दिन आते हैं तो वह अपना भला चाहनेवाले की बात की ओर भी ध्यान नहीं देता। कहा भी गया है कि मनुष्य के विनाश से पूर्व उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।' । 397 ।

॥ नास्ति देहिनां सुखदुःखाभावः ॥

प्रत्येक देहधारी व्यक्ति के जीवन के साथ दुःख और सुख लगे रहते हैं।

जिसने मनुष्य जीवन धारण किया है उसे सुख और दुःख किसी-न-किसी रूप में प्राप्त होते रहते हैं। जिस प्रकार जीवन में मनुष्य का बीमार रहना दुःख है और स्वस्थ रहना सुख, उसी प्रकार सफलता और असफलता भी मानव जीवन के दो पहलू हैं। । 398 ।

॥ मातरमिव वत्साः सुखदुःखानि कर्तारमेवानुगच्छन्ति ॥

जैसे बछड़ा माता के पास जा पहुंचता है वैसे ही सुख और दुःख अपने कर्ता के पास जा पहुंचते हैं।

सुख और दुःख मनुष्य के जीवन के आवश्यक अंग हैं परंतु उनकी उत्पत्ति का कारण वह स्वयं होता है। जिस प्रकार गाय का बछड़ा गाय की अपनी उत्पत्ति है और वह उसके पीछे-पीछे चलता है, उसी प्रकार मनुष्य द्वारा उत्पन्न किए गए सुख और दुःख उसका पीछा करते हैं। । 399 ।

॥ तिलमात्रमप्युपकारं शैलमात्रं मन्यते साधुः ॥

सज्जन पुरुष तिल के समान छोटे से उपकार को भी पहाड़ के समान बड़ा मानते हैं।

यह सज्जन पुरुष का स्वभाव होता है कि कोई व्यक्ति जो उनका छोटा-सा उपकार करता है, वे उसे बड़ा भारी उपकार मानते हैं और उसके प्रति कृतज्ञ बने रहते हैं। । 400 ।

॥ उपकारोऽनार्येष्वकर्तव्यः ॥

दुष्ट पुरुष पर उपकार नहीं करना चाहिए।

दुष्ट पुरुष अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता और वह उपकार करनेवाले के प्रति कृतज्ञता भी

प्रकट नहीं करता। भाव यह है कि पात्र देखकर ही किसी पर उपकार करना चाहिए। अपात्र के प्रति उपकार करने से कोई लाभ नहीं होता। । 401 ।

॥ प्रत्युपकारभयादनार्यः शत्रुर्भवति ॥

उपकार का बदला चुकाने के भय से दुष्ट पुरुष शत्रु बन जाता है।

दुष्ट व्यक्ति अपने प्रति किये गए उपकार का बदला नहीं चुकाना चाहता। उसमें ऐसी भावना नहीं होती इसलिए वह उपकार करनेवाले व्यक्ति के प्रति उपेक्षा और द्वेष की भावना रखने लगता है। । 402 ।

॥ स्वल्पमप्युपकारकृते प्रत्युपकारं कर्तुमार्यो न स्वपिति ॥

सज्जन पुरुष थोड़े से उपकार के बदले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपकार करने के लिए तैयार रहते हैं।

सज्जन पुरुष छोटे से उपकार को बहुत बड़ा मानते हैं और वह इसका बदला चुकाने के लिए सदा तैयार रहते हैं। उन्हें तब तक चैन नहीं पड़ता जब तक कि वे इस संबंध में अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं कर लेते। । 403 ।

॥ न कदापि देवताऽवमन्तका ॥

देवता का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए।

जिन मूर्तियों, चित्रों आदि को देवता समझकर पूजा के योग्य माना जाता है, उनका अपमान करना उचित नहीं। इसी प्रकार पूजास्थानों और अच्छे चरित्र वाले श्रेष्ठ व्यक्तियों का भी अपमान करना निंदाजनक कार्य है। । 404 ।

॥ न चक्षुषः समं ज्योतिरस्ति ॥

आंख के समान दूसरी कोई ज्योति नहीं है।

मनुष्य के शरीर में नेत्र ही ऐसा अंग है जिसके बिना मनुष्य-जीवन निरर्थक होता है। किसी वस्तु को प्रत्यक्ष देखने का जो महत्त्व है उसे किसी अन्य प्रकार से पूरा नहीं किया जा सकता। । 405 ।

॥ चक्षुर्हि शरीरिणां नेता ॥

नेत्र ही देहधारियों का नेता है।

आंखों को देहधारियों का नेता इसलिए कहा गया है क्योंकि जब तक मनुष्य के ज्ञान-

चक्षु नहीं खुलते तब तक वह किसी भी सत्य अथवा असत्य कार्य के संबंध में निर्णय नहीं करता। इसीलिए नेत्रों को शरीरधारी का पथदर्शक माना गया है। । 406 ।

॥ अपचक्षुषः किं शरीरेण ॥

नेत्रहीन का जीवन क्लेशप्रद होता है।

आंखों के बिना मनुष्य संसार में अपनी जीवन-यात्रा अत्यन्त क्लेश में रहकर ही पूरी कर पाता है। नेत्रहीन व्यक्तियों के कष्टों की कोई सीमा नहीं होती। । 407 ।

॥ नाप्सु मूत्रं कुर्यात् ॥

जल में मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए।

जल में मूत्र त्याग से वह उपयोग में लाने के योग्य नहीं रहता। उसे पीने, स्नान करने अथवा अन्य किसी भी उपयोग में लाने से भयंकर परिणाम हो सकते हैं। । 408 ।

॥ न नग्नो जलं प्रविशेत् ॥

पूरी तरह से नग्न होकर जल में नहीं उतरना चाहिए।

जल में कुछ जीव इस प्रकार के होते हैं जो शरीर से चिपककर रक्त चूस लेते हैं। इसीलिए जलाशयों, नदियों आदि में भी पूरी तरह नग्न होकर नहीं घुसना चाहिए। । 409 ।

॥ यथा शरीरं तथा ज्ञानम् ॥

शरीर जैसा होता है वैसा ही ज्ञान उसमें रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति के शरीर का आकार-प्रकार विभिन्न प्रकार का होता है। बहुत से व्यक्तियों के शरीर को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कितने बुद्धिमान हैं। परंतु उसे मानदंड के रूप में स्वीकार करना कठिन है। । 410 ।

॥ यथा बुद्धिस्तथा विभवः ॥

जैसी बुद्धि होती है वैसा ही वैभव होता है।

यहां सत्, रज, तम तीनों गुणों की बात है, जो प्राणी जैसी बुद्धि का होता है, अपने वैभव के लिए वह वैसे ही सम्मान एकत्रित करता है। सत् बुद्धि के वैभव सात्त्विक होंगे, रज बुद्धि के राजसी और तामस बुद्धि के वैभव भी तामसी ही होंगे। । 411 ।

॥ अग्नावग्निं न निक्षिपेत् ॥

आग में आग नहीं डालनी चाहिए। क्रोध के बदले क्रोध नहीं करना चाहिए।

इसका भावार्थ यह है कि क्रोध का उत्तर क्रोध से नहीं दिया जा सकता। क्रोध के उत्तर में क्रोध करने से अशांति पैदा होती है और दोनों पक्षों की हानि भी हो सकती है। । 412 ।

॥ तपस्विनः पूजनीयाः ॥

तपस्वियों की सदा पूजा करनी चाहिए।

तपस्वी वे लोग होते हैं जो इंद्रियों को वश में रखने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज के लिए मार्गदर्शक का काम करते हैं। वे समाज के मूल्यवान धन होते हैं। समाज को चाहिए कि वह उनका आदर-सत्कार करे, उनका अपमान न करे। । 413 ।

॥ परदारान् न गच्छेत् ॥

पराई स्त्री के साथ समागम नहीं करना चाहिए।

परपत्नियों से संपर्क स्थापित करने की बात भी मन में नहीं सोचनी चाहिए। दुष्ट प्रवृत्तियों पर कठोर संयम रखने से ही मानव तथा सामाजिक जीवन की शांति संभव है। जो मनुष्य दूसरों की स्त्री से संभोग करते हैं वे समाज में लज्जित होते हैं। । 414 ।

॥ अन्नदानं भ्रूणहत्यामपि प्रमार्ष्टि ॥

अन्नदान से भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) हत्या का भी पाप मिट जाता है। । 415 ।

॥ न वेदबाह्यो धर्मः ॥

वेद-स्वीकृत धर्म ही वास्तविक धर्म है।

धर्म वेद से बाहर नहीं। धर्म के व्याख्याकारों ने इस संबंध में जो कुछ भी बताया है वह वेद के अनुरूप है। वेद ज्ञान का भंडार है। वेद के विरुद्ध चलने से धर्म का पालन नहीं हो सकता। वेद के अनुरूप आचरण करना ही मनुष्य का धर्म है। । 416 ।

॥ न कदाचिदपि धर्मं निषेधयेत् ॥

धर्म का विरोध कभी नहीं करना चाहिए और न ऐसे धर्म के विरोधियों की संगत करें।

मनुष्य को धर्मानुष्ठान करना चाहिए। धर्म का पालन करना ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा कर्तव्य होता है। क्षण भर के लिए भी धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए। धर्म का पालन न करने वाले व्यक्ति समाज में अशांति पैदा करते हैं। व्यक्ति को सदैव धर्म का

आचरण करना चाहिए। । 417 ।

॥ स्वर्गं नयति सूनृतम् ॥

मीठी और सच्ची वाणी मनुष्य को स्वर्ग ले जाती है।

जो व्यक्ति मधुर वाणी बोलते हैं वे सबको अपना मित्र बना लेते हैं। उनका कोई शत्रु नहीं होता। वे संसार में निर्भय होकर स्वर्ग का सुख भोगते हैं। मनुष्य प्रेमपूर्ण मधुरवाणी से शत्रु को भी अपना मित्र बना लेता है। । 418 ।

॥ नास्ति सत्यात्परं तपः ॥

सत्य से बढ़कर कोई तप नहीं है।

सत्य का अवलंबन ही इस संसार में सबसे अच्छी तपस्या है। सत्य का आचरण करने से मनुष्य पर अनेक संकट भी आ सकते हैं। परंतु सत्याचरण से ही व्यक्ति उनसे विचलित नहीं हो सकता। वह अनेक कष्ट उठाकर भी सत्य का परित्याग नहीं करता। । 419 ।

॥ सत्यं स्वर्गस्य साधनम् ॥

सत्य के द्वारा ही मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त होता है।

मनुष्य के हृदय में रहनेवाले सत्य का ध्येय यह होता है कि मनुष्यों की स्वार्थ युक्त प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाये। इस प्रकार मनुष्य दुष्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। मनुष्य अपनी भोली प्रवृत्तियों का मार्जन सत्य के बल पर ही करता है और उसकी पूजा स्वर्ग के देवता के समान होने लगती है। मनुष्य को ध्यान देना चाहिए कि स्वयं सत्य ही साधन भी है और साध्य भी। इसीलिए मनुष्य को सत्य का साथ नहीं छोड़ना चाहिए। । 420 ।

॥ सत्येन धार्यते लोकः ॥

सत्य पर ही संसार टिका हुआ है।

सत्य के कारण ही मानव-समाज में व्यवस्था कायम रहती है। सार्वजनिक कल्याण और आत्म-कल्याण सत्य के द्वारा ही हो सकता है। सत्यहीन समाज व्यक्तियों की स्वेच्छाचारिता के कारण छिन्न-भिन्न हो जाता है, जिससे इसका सर्वनाश भी हो जाता है। । 421 ।

॥ सत्याद् देवो वर्षति ॥

सत्य से देवों की कृपा बरसती है।

जो समाज सत्य के अधीन रहता है, देवताओं की कृपा की वहां ही वर्षा होती है। ।
422 ।

॥ नानृतात्पातकं परम् ॥

झूठ से बढ़कर इस संसार में कोई पाप नहीं।

झूठ अथवा असत्य आचरण करने से मनुष्यों को अनेक संकटों का सामना करना पड़ता है। झूठ के द्वारा मनुष्य दूसरों को ही नहीं, वरन् स्वयं अपने आपको भी धोखा देता है।
। 423 ।

॥ न मीमांस्या गुरवः ॥

गुरुजनों की आलोचना नहीं करनी चाहिए।

मनुष्य को चाहिए कि अपने गुरु की कभी आलोचना न करे। गुरु शिष्य का सदैव हित चाहते हैं। वे कभी उसका अहित नहीं करते।

इसीलिए यदि उनके हृदय की भावना को व्यक्ति न समझ सके तो भी उनकी आलोचना नहीं करनी चाहिए। आलोचना का अर्थ व्यक्ति के दोषों को ढूंढना है। अतः अपने गुरुजनों में दोष ढूंढना मनुष्य की मूर्खता है। । 424 ।

॥ खलत्वं नोपेयात् ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह दुष्टता को स्वीकार न करे।

मनुष्य को नीचता का कभी आश्रय नहीं लेना चाहिए। उसका कर्तव्य है कि वह सदैव नीच व्यक्ति से दूर रहे। दूसरों की निंदा करना, लड़ाई-झगड़ा करना, असत्याचरण करना आदि नीच कार्य मानव को उसके उच्च आदर्शों से गिराते हैं। इसीलिए उसे चाहिए कि वह इस प्रकार के पाप कार्यों से पृथक् रहे। । 425 ।

॥ नास्ति खलस्य मित्रम् ॥

धूर्त मनुष्य का कोई मित्र नहीं होता।

जो व्यक्ति सज्जन लोगों से दुर्व्यवहार करता है वह धीरे-धीरे स्वयं अपने मित्रों में कमी करता है। समय पाकर उसके बन्धु-बान्धव भी उसे छोड़ जाते हैं। सज्जन व्यक्ति ही किसी को परखने के बाद मित्रता का हाथ बढ़ाते हैं। धूर्त व्यक्ति स्वभाव से ही सज्जन लोगों का शत्रु होता है। इसीलिए समझदार व्यक्ति को चाहिए कि दुष्ट, नीच और धूर्त व्यक्तियों से कभी सम्पर्क स्थापित न करे। । 426 ।

॥ लोकयात्रा दरिद्रं बाधते ॥

दरिद्र मनुष्य का जीवन-निर्वाह कठिन होता है।

दरिद्रता जीवन का अभिशाप है। दरिद्र और निर्धन व्यक्तियों को अपने परिवार के आश्रितों के अतिरिक्त स्वयं अपने जीवन को चलाना कठिन होता है। निर्धनता के कारण उसके सगे-संबंधी भी उसे छोड़ देते हैं। इसीलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह धैर्यपूर्वक प्रयत्न करता हुआ निर्धनता को समाप्त करने का प्रयत्न करे। । 427 ।

॥ अतिशूरो दानशूरः ॥

दानवीर ही सबसे बड़ा वीर है। । 428 ।

॥ गुरुदेवब्राह्मणेषु भक्तिभूषणम् ॥

गुरु, देवता और ब्राह्मणों में भक्ति रखना मानवता का आभूषण है।

जो व्यक्ति गुरुओं, ब्राह्मणों और सज्जन व्यक्तियों आदि के संबंध में समान भाव रखता है, उनकी भक्ति करता है, वास्तव में वह इस प्रकार अपने जीवन की शोभा बढ़ाता है। ये कार्य उसके लिए एक आभूषण के समान होते हैं। उसकी सर्वत्र पूजा होती है। । 429 ।

॥ सर्वस्य भूषणं विनयः ॥

विनय सबका आभूषण है।

विनय का अर्थ है नम्र स्वभाव। परंतु नम्र स्वभाव का व्यक्ति वही हो सकता है जिसकी सत्य में निष्ठा होती है। सत्य आचरण करने वाला व्यक्ति अपने नम्र स्वभाव का कभी त्याग नहीं कर सकता। मनुष्य का नम्र स्वभाव उसे सबका प्रिय बना देता है। जिस प्रकार आभूषण सबको अच्छे लगते हैं, उसी प्रकार प्राणी का आभूषण विनयशीलता सबको अच्छा लगता है। । 430 ।

॥ अकुलीनोऽपि विनीतः कुलीनाद्विशिष्टः ॥

जो कुलीन न होता हुआ भी विनीत हो, वह श्रेष्ठ कुलीन अहंकारी व्यक्ति की अपेक्षा बड़ा है।

जो व्यक्ति अच्छे कुल में उत्पन्न न होने पर भी विनयशील बना रहता है वह अहंकार युक्त कुलीन व्यक्ति से अच्छा माना जाता है। विनम्रता के कारण व्यक्ति का समाज में आदर बढ़ता है। । 431 ।

॥ आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च ॥

सदाचार से मनुष्य की आयु और यश दोनों की वृद्धि होती है।

दुराचारी मनुष्य अपने निकृष्ट कार्यों के कारण अनेक रोगों का शिकार हो जाता है और जल्दी ही मौत के मुंह में चला जाता है। परंतु सदाचारी व्यक्ति मन, वचन और कर्म द्वारा अपनी इंद्रियों को वश में रखने के कारण दीर्घायु होता है। ऐसे व्यक्ति का यश भी बढ़ता है। सदाचारी व्यक्ति का सभी सम्मान करते हैं। । 432 ।

॥ प्रियमप्यहितं न वक्तव्यम् ॥

मधुर और प्रिय होने पर भी अहितकर वाणी नहीं बोलनी चाहिए।

ऐसी मीठी बातें करने का भी कोई प्रयोजन नहीं होता, जिनसे दूसरों को ठेस पहुंचे। । 433 ।

॥ बहुजन विरुद्धमेकं नानुवर्तेत् ॥

अनेक लोगों के विरोधी एक व्यक्ति का अनुगमन नहीं करना चाहिए।

जिस एक व्यक्ति का बहुत से व्यक्ति विरोध करते हों, उसका अनुकरण करने से मनुष्य की हानि होती है अर्थात् इसका भाव यह है कि किसी व्यक्तित्व का अनुसरण न करके सत्य का अनुसरण करना चाहिए। । 434 ।

॥ न दुर्जनेषु भागधेयः कर्त्तव्यः ॥

दुर्जन व्यक्तियों के साथ कभी भी अपना भाग्य नहीं जोड़ना चाहिए।

जिन व्यक्तियों की नीयत साफ नहीं है और जो स्वभाव से दुष्ट हैं, उनके साथ मिलकर कोई कार्य नहीं करना चाहिए। उनसे मिलकर कार्य करने से मनुष्यों को हानि उठानी पड़ती है। । 435 ।

॥ न कृतार्थेषु नीचेषु सम्बन्धः ॥

कृतार्थ अर्थात् अपने व्यवसाय में सफल नीच व्यक्ति से भी संबंध स्थापित नहीं करना चाहिए।

जो व्यक्ति अपने व्यवसाय में किसी प्रकार सफलता प्राप्त कर भाग्यशाली बन जाए, और स्वभाव में नीचता रहे ऐसे भाग्यशाली नीच व्यक्तियों से भी कभी संबंध स्थापित नहीं करना चाहिए। । 436 ।

॥ ऋणशत्रुव्याधिष्वशेषः कर्तव्यः ॥

ऋण अर्थात् कर्ज, शत्रु और रोग को सर्वथा समाप्त कर देना चाहिए। । 437 ।

॥ भूत्यनुवर्तनं पुरुषस्य रसायनम् ॥

कल्याण-मार्ग पर चलना ही मनुष्य के लिए उत्तम साधन है। । 438 ।

॥ नार्थिष्ववज्ञा कार्या ॥

याचक का अपमान नहीं करना चाहिए।

याचक का कोई मान-अपमान नहीं होता। वह किन कारणों से प्रेरित होकर भीख मांगने पर उतारू होता है, यह उसकी विवशता समझते हुए उसका अपमान करने से कोई लाभ नहीं। । 439 ।

॥ सुदुष्करं कर्म कारयित्वा कर्तारमवमन्यते नीचः ॥

नीच मनुष्य दुष्कर्म करवाने के बाद वह कार्य करनेवाले को अपमानित करता है।

इस सूत्र का अर्थ यह है कि नीच मनुष्य किसी व्यक्ति से कोई ऐसा कठिन कार्य करवा लेता है जो उसके लिए संभव नहीं होता। अपने स्वभाव के अनुसार वह काम करने वाले का अपमान करता है। कठिन कार्य के संबंध में नीच मनुष्य कर्ता को सफलता का यश न देने की भावना से ही ऐसा करता है। । 440 ।

॥ नाकृतज्ञस्य नरकान्निवर्तनम् ॥

कृतघ्न मनुष्यों की नरक के अतिरिक्त कोई गति नहीं।

जो व्यक्ति किसी के उपकार को नहीं मानता, उसकी कभी उन्नति नहीं हो सकती। ऐसा व्यक्ति दुबारा किसी से सहायता न मिलने के कारण सदैव दुखी रहता है। किसी के उपकार को न मानना व्यक्ति के अधःपतन की एक सीमा है। । 441 ।

॥ जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ ॥

मनुष्य की उन्नति और अवनति उसकी अपनी वाणी के अधीन है।

व्यक्ति जिस प्रकार की बात करता है अथवा जिस प्रकार के वचन बोलता है, उन्हीं के आधार पर संसार में उसकी वृद्धि और अवनति होती है। मधुर, उपयोगी और समय के अनुकूल बात करनेवाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। जो वाणी का सही उपयोग जानते हैं, वे

इस संसार में उन्नति करते हैं और सुखी भी रहते हैं। । 442 ।

॥ विषामृतयोराकरो जिह्वा ॥

मनुष्य की वाणी ही विष तथा अमृत की खान है। । 443 ।

॥ प्रियवादिनो न शत्रुः ॥

जो व्यक्ति प्रिय वचन बोलता है उसका कोई शत्रु नहीं होता। । 444 ।

॥ स्तुता अपि देवता स्तुष्यन्ति ॥

स्तुति करने से देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं।

स्तुति द्वारा देवताओं को भी अपना बना लेना अपने आप में एक लोकोक्ति है। मंदिर में रखी हुई मूर्ति, देवता अदृश्य होता है परंतु भक्त मन से उसकी स्तुति करता है, उसकी प्रार्थना करता है, उससे उसकी मनोकामनाएं पूरी हो जाती हैं। जब अदृश्य देवता मधुर वचनों से प्रसन्न होते हैं तो प्रतिदिन संपर्क में आने वाले व्यक्ति हित करनेवाली और मधुरवाणी से क्यों न प्रसन्न होंगे? । 445 ।

॥ अनृतमपि दुर्वचनं चिरं तिष्ठति ॥

असत्य दुर्वचन लंबे समय तक स्मरण रहता है।

यही बात दूसरे रूप में यों कही गई है कि तलवार का घाव तो समय पाकर ठीक हो जाता है, परंतु कटु वाणी से उत्पन्न हुआ द्वेष जीवन भर समाप्त नहीं होता, वरन् कई पीढ़ियों तक चलता रहता है। इसीलिए मनुष्य को दुर्वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। । 446 ।

॥ राजद्विष्टं न च वक्तव्यम् ॥

राजा से द्वेष उत्पन्न करने वाली बात कभी नहीं बोलनी चाहिए।

ऐसी बात अथवा भाषण कभी नहीं करना चाहिए जिससे राजद्रोह प्रकट होता हो। राजद्रोह अपराध है। । 447 ।

॥ श्रुतिसुखात्कोकिलालापान्तुष्यन्ति ॥

काली कोयल की कूक सबको अच्छी लगती है।

कुरूप होने पर भी कोयल की वाणी मधुर होती है, इसीलिए वह सबको अच्छी लगती है। काला तो कौआ भी होता है, परंतु उसकी वाणी कठोर होती है, इसीलिए उसे कोई

पसंद नहीं करता। इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह राज्य के अधिकारियों से ऐसी कठोर बात न कहे जिससे हानि पहुंचती हो। । 448 ।

॥ स्वधर्महेतुः सत्पुरुषः ॥

अपने धर्म में स्थित होने के कारण ही पुरुष सत्पुरुष कहलाता है।

अपने धर्म का पालन करने से ही व्यक्ति सत्पुरुष कहलाता है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा कि—‘स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।’ । 449 ।

॥ नास्त्यर्थिनो गौरवम् ॥

याचक का समाज में कोई गौरव नहीं होता।

याचना करनेवाले और कंजूस धनी व्यक्ति को संसार में सम्मान प्राप्त नहीं होता। मांगनेवाला दूसरों की दृष्टि में हीन माना जाता है और कंजूस धनी व्यक्ति दान न देने के कारण सम्मानहीन बन जाता है। । 450 ।

॥ स्त्रीणां भूषणं सौभाग्यम् ॥

स्त्रियों का आभूषण उनका सौभाग्य होता है।

जो स्त्रियां अपने पति के प्रति समर्पित और पतिव्रता होती हैं, उनका समाज में सम्मान होता है। इससे बढ़कर स्त्री के लिए न तो कोई आभूषण है और न कोई सौंदर्य। पति ही उसके लिए सब कुछ होता है। । 451 ।

॥ शत्रोरपि न पतनीया वृत्तिः ॥

शत्रु की भी आजीविका नष्ट नहीं करनी चाहिए।

आजीविका एक ऐसा उपाय है जिससे व्यक्ति अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करता है। किसी को जीविका उपलब्ध कराना बहुत ही महत्त्व और पुण्य का कार्य समझा जाता है। चाणक्य कहते हैं कि शत्रु की जीविका को भी हानि नहीं पहुंचानी चाहिए। । 452 ।

॥ अप्रयत्नादेकं क्षेत्रम् ॥

जहां बिना प्रयत्न किये जल उपलब्ध हो वही कृषि योग्य भूमि होती है। । 453 ।

॥ एरण्डमवलम्ब्य कुंजरं न कोपयेत् ॥

एरंड वृक्ष का आश्रय लेकर हाथी को क्रुद्ध नहीं करना चाहिए।

सूत्र का भाव यह है कि क्षुद्र व्यक्ति के भरोसे बलवान् शत्रु से विवाद नहीं करना चाहिए। एरंड का वृक्ष दृढ़ नहीं होता इसीलिए उसका आश्रय लेकर हाथी से बैर नहीं करना चाहिए। । 454 ।

॥ अतिप्रवृद्धा शाल्मली वारणस्तम्भो न भवति ॥

बहुत पुराना होने पर भी सेमल के वृक्ष से हाथी को नहीं बांधा जा सकता।

जैसे पुराना विशाल शाल्मली असार होने से हाथी बांधने के योग्य नहीं माना जाता, उसी प्रकार निर्बल मन वाले लोग पर्याप्त समृद्ध और हृष्ट-पुष्ट हो जाने पर भी बलवान् से टक्कर लेने योग्य नहीं हो सकते। मनुष्य में बल, बुद्धि के लिए अन्तःसार होना चाहिए। हार्दिक बल ही संग्राम की विशेष योग्यता है, भुजबल नहीं। देह की विशालता विजय का साधन नहीं हो सकती। । 455 ।

॥ अतिदीर्घोऽपि कर्णिकारो न मुसली ॥

बहुत बड़ा कनेर का वृक्ष भी मूसल बनाने के काम नहीं आता।

कनेर का वृक्ष अंदर से खोखला होता है। इसीलिए उसकी लकड़ी से मूसली बनाने का काम नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार कमजोर, दुर्बल, मनवाले व्यक्ति के पास जितने भी भौतिक साधन हों, उनसे कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता। । 456 ।

॥ अतिदीप्तोऽपि खद्योतो न पावकः ॥

जुगनू कितना भी अधिक चमकीला क्यों न हो वह आग का काम नहीं दे सकता।

व्यक्ति को कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा करने के लिए मन का दृढ़ होना आवश्यक है। जिस प्रकार जुगनू की चमक से न प्रकाश होता है और न आग का काम लिया जा सकता है। इसी प्रकार निर्बल मन वाले व्यक्ति कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। । 457 ।

॥ न प्रवृद्धत्वं गुणहेतुः ॥

समृद्धशाली हो जाने पर भी कोई आवश्यक रूप से गुणवान नहीं हो पाता।

यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति को किसी एक बात में वृद्धि प्राप्त हो जाए और वह गुणी भी हो। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि समृद्धिशाली लोगों में गुणों का निवास आवश्यक रूप से ही होता है। । 458 ।

॥ सुजीर्णोऽपि पिचुमन्दो न शङ्कुलायते ॥

बहुत पुराना होने पर भी नीम के वृक्ष का सरौता नहीं बन सकता।

जिस प्रकार नीम के पुराने होने पर भी सरौता अथवा चाकू बनाने का काम नहीं लिया जा सकता, इसी प्रकार दुष्ट स्वभाव के लोग कितने भी पुराने अथवा वृद्ध क्यों न हो जाएं, उनकी सारहीनता नष्ट नहीं होती और उन्हें सारवान नहीं बनाया जा सकता। अर्थात् दुष्ट प्रकृति के लोग विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य के उपयोगी नहीं होते। । 459 ।

॥ यथा बीजं तथा निष्पत्तिः ॥

जैसा बीज होता है वैसा ही फल उत्पन्न होता है।

जैसा बोओगे वैसा काटोगे अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। संतान भी वैसी ही होती है जैसे माता-पिता और उनके विचार होते हैं। । 460 ।

॥ यथाश्रुतं तथा बुद्धिः ॥

शिक्षा के अनुरूप ही बुद्धि होती है।

मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा जैसी होगी, बुद्धि का विकास भी वैसा ही होगा। इसीलिए सदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि संतान को अच्छी शिक्षा दे, जिससे उनमें अच्छी बुद्धि का विकास हो। । 461 ।

॥ यथाकुलं तथाऽऽचारः ॥

जैसा कुल होता है वैसा ही आचरण होता है।

प्रायः देखा गया है कि कुल की परंपरा के अनुसार ही लोगों का आचार-व्यवहार होता है। जिस वंश के व्यक्ति धर्मपरायण और गुणी होते हैं उस कुल का लौकिक व्यवहार भी उदारता से युक्त होता है। ऐसे कुल में जन्मे और पालन-पोषण प्राप्त बालक उदार होंगे। । 462 ।

॥ संस्कृतः पिचुमन्दो न सहकारो भवति ॥

नीम को कितना भी शुद्ध क्यों न किया जाए वह आम नहीं बन सकता।

नीम के वृक्ष को दूध और गुड़ आदि से कितना भी अधिक सींचा जाए, किंतु उसकी स्वाभाविकता समाप्त नहीं हो सकती और उसे आम के फल जैसा मधुर नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार नीच मनुष्य को भी कितने ही उपदेश दिए जायें, उसके लिए नीचता का त्याग करना अत्यन्त कठिन होता है। । 463 ।

॥ न चागतं सुखं परित्यजेत् ॥

प्राप्त होने वाले सुख को नहीं छोड़ना चाहिए।

निश्चित और अनुकूल वर्तमान को त्यागकर अनिश्चित भविष्य की आशा में पड़े रहना उचित नहीं। जो अवसर प्राप्त हो उसे खोना नहीं चाहिए। किसी बड़े सुअवसर की आशा में हाथ में आए छोटे अनुकूल कार्यों को छोड़ नहीं देना चाहिए। कहा भी गया है 'यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निशेवते। ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव तत्॥'

अर्थात् जो हाथ में है उसका लाभ उठाना ही बुद्धिमानी है। । 464 ।

॥ स्वयमेव दुःखमधिगच्छति ॥

अपने कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को दुःख मिलता है।

मनुष्य जैसे कार्य करता है उसी के अनुसार उसे सुखों और दुखों की प्राप्ति होती है। वास्तव में दुःख मनुष्य द्वारा स्वेच्छा से स्वीकृत किया हुआ रोग है। उसे समझना चाहिए कि यह उसके कार्यों का ही फल है। । 465 ।

॥ न रात्रिचारणं कुर्यात् ॥

रात के समय व्यर्थ नहीं घूमना चाहिए।

स्त्रियों को तो इसके प्रति अत्यधिक सावधान रहना चाहिए। । 466 ।

॥ न चार्धरात्रं स्वपेयात् ॥

आधी रात तक जागते नहीं रहना चाहिए।

रात्रि विश्राम करने के लिए बनाई गई है। चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार इस समय शरीर में ऐसी रासायनिक क्रिया होती है जो शरीर के स्वस्थ रहने के लिए उपयोगी है। इसीलिए रात में समय पर सो जाना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभदायक है। रात्रि को केवल योगी जागते हैं, जो प्रभु की प्रार्थना में लीन रहते हैं।

सामान्य जनों को समय के अनुसार व्यवहार करना चाहिए और बहुत रात बिताकर नहीं सोना चाहिए। । 467 ।

॥ तद्विद्वद्भिः परीक्षेत ॥

मनुष्य को किस समय क्या कार्य करना चाहिए, यह विद्वान् और अनुभवी कुल के वृद्ध पुरुषों से सीखना चाहिए।

परिवार के वृद्ध पुरुषों को अपने अनुभवों द्वारा बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। इसीलिए परिवार के लोगों को जीवन में आचरण के लिए उनसे बहुत कुछ सीखना चाहिए। । 468 ।

॥ परगृहमकारणतो न प्रविशेत् ॥

बिना किसी कारण किसी दूसरे के घर में नहीं जाना चाहिए।

बिना कारण किसी दूसरे के घर जाने से व्यक्ति का अपमान होता है। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि कानूनी अधिकार प्राप्त होने पर ही किसी दूसरे के घर में प्रवेश किया जा सकता है, वैसे नहीं। । 469 ।

॥ ज्ञात्वापि दोषमेव करोति लोकः ॥

मनुष्य जानबूझकर ही अपराध की ओर प्रवृत्त होता है।

मनुष्य अपनी स्वाभाविक बुद्धि के अनुरूप किसी कार्य को बुरा समझते हुए भी उस कार्य की ओर आकृष्ट होता है। मनुष्य असंयम के कारण ऐसा करता है। जिन व्यक्तियों में संयम नहीं होता वे भ्रष्टाचारी बन जाते हैं। । 470 ।

॥ शास्त्रप्रधाना लोकवृत्तिः ॥

लोक व्यवहार शास्त्र के अनुकूल होना चाहिए।

मनुष्य के व्यवहार के संबंध में प्रायः सभी शास्त्रों में बताया गया है, इसीलिए मनुष्यों को अपने कार्य-व्यापार में अन्य लोगों की अपेक्षा व्यवहार आदि की प्रेरणा शास्त्रों से ही लेनी चाहिए। । 471 ।

॥ शास्त्राभावे शिष्टाचारमनुगच्छेत् ॥

यदि मनुष्य को शास्त्र का ज्ञान न हो तो मनुष्यों को अपना आचरण श्रेष्ठ पुरुषों के अनुसार करना चाहिए।

यदि किसी व्यक्ति को शास्त्र का ज्ञान नहीं, तो उसे जीवन में बहुत-सी बातों के लिए कठिनाई हो सकती है। इस कठिनाई को दूर करने का एक सरल उपाय यह है कि उसे अपना आचरण श्रेष्ठ पुरुषों के समान करना चाहिए अर्थात् जैसा वे करते हैं, उनका अनुगमन करना चाहिए। । 472 ।

॥ नाचरिताच्छास्त्रं गरीयः ॥

कोई भी शास्त्र सदाचार से बढ़कर नहीं है।

अच्छा आचरण शास्त्र से अधिक मान्य है। सभी शास्त्रों में सदाचरण की ही शिक्षा दी गई है। सदाचार शास्त्रों से भी बड़ा है। । 473 ।

॥ दूरस्थमपि चारचक्षुः पश्यति राजा ॥

राजा गुप्तचरों द्वारा दूर की वस्तु को भी देख लेता है।

गुप्तचर राजा की आंख होते हैं। वह देश तथा विदेश में अपने राज्य से संबंधित अनेक बातों को गुप्तचरों द्वारा जान लेता है। । 474 ।

॥ गतानुगतिको लोकः ॥

साधारण मनुष्य परंपरा का अनुसरण करते हैं।

इसे दूसरे शब्दों में भेड़-चाल भी कहा जा सकता है। केवल बुद्धिमान मनुष्य ही सोच-विचार कर हितकर मार्ग का अनुसरण करते हैं और अहितकर मार्ग त्याग देते हैं। वे किसी दूसरे को देखकर आचरण नहीं करते। वे अपनी बुद्धि से विचार कर कार्य करते हैं। । 475 ।

॥ यमनुजीवेत्तं नापवदेत् ॥

जिसके द्वारा जीविकोपार्जन होता है उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए।

मनुष्य को आजीविका देने वाले स्वामी की निंदा नहीं करनी चाहिए। ऐसा करने से जीविका समाप्त हो सकती है। यह समस्त संसार सन्मति, पुण्य कार्य, धर्म, जीविका आदि के कारण एक-दूसरे से बंधे हुए हैं।

इसी कारण यह संसार निर्विघ्न चलता रहता है। अतः आजीविका देने वाले स्वामी की निंदा न करके उसका सम्मान करना चाहिए। । 476 ।

॥ तपःसार इन्द्रियनिग्रहः ॥

इंद्रियों को वश में रखना ही तप का सार है।

विषयभोग से संबंध रखने वाले व्यक्ति एकांत वन में भी अपनी इंद्रियों को वश में नहीं रख सकते। जो व्यक्ति अपने घर में रहता हुआ भी इंद्रियों को वश में रखता हुआ अपना कार्य करता है, वह तप पूर्ण जीवन ही बिता रहा होता है। । 477 ।

॥ दुर्लभः स्त्रीबन्धनान्मोक्षः ॥

स्त्री के बंधन से छूटना बड़ा कठिन कार्य है।

स्त्री से भोगविलास संबंधी विचार आने पर मनुष्य असाधारण मनोबल से ही बच सकता है। परंतु यदि स्त्री चाहे तो उसके तप को भंग भी कर सकती है। यदि कोई तपस्वी भी इंद्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता तो उसकी तपस्या व्यर्थ होती है। व्यक्ति को स्त्रियों के मोह में नहीं पड़ना चाहिए। । 478 ।

॥ स्त्रीणां सर्वाशुभानां क्षेत्रम् ॥

स्त्री सभी संकटों को जन्म देने वाली होती है।

इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएं इस बात का प्रमाण हैं कि स्त्रियों के कारण मनुष्य समाज को भारी हानि उठानी पड़ी। रामायण, महाभारत, पृथ्वीराज और संयोगिता की कहानियां इस बात का प्रमाण हैं।

इसीलिए राष्ट्र को चाहिए कि स्त्री जाति के संबंध में अपने कर्तव्यों के प्रति पूर्ण सचेत रहे। स्त्री को केवल भोगविलास का साधन मानने से भी अनेक हानिकारक परिणाम भुगतने पड़ते हैं। । 479 ।

॥ अशुभद्वेषिणः स्त्रीषु न प्रसक्ताः (प्रसक्तिः) ॥

अशुभ कार्यो को न चाहने वाले लोग स्त्रियों में आसक्त नहीं हो सकते।

समाज के हित में अपना हित समझने वाले लोग स्त्रियों के अधिक संपर्क में नहीं आते। समाज का कल्याण चाहने वाले लोगों को स्त्रियों में आसक्त न होकर उनके साथ केवल कर्तव्य का संबंध रखना चाहिए। स्त्रियों में अधिक आसक्ति मनुष्य को पतन की चरम सीमा तक पहुंचा सकती है। । 480 ।

॥ यज्ञफलज्ञास्त्रिवेदविदः ॥

ऋक्, यजु, साम आदि तीनों वेदों को जानने वाला ही यज्ञ के फल को जानता है।

यज्ञ फल से मनुष्य प्रभु के संबंध में ज्ञान प्राप्त करता है अथवा उसे अपने संबंध में पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। अर्थात् वह अपने वास्तविक स्वरूप को यज्ञ के कारण समझ पाता है। । 481 ।

॥ स्वर्गस्थानं न शाश्वतम् (यावत्पुण्यफलम्) ॥

स्वर्ग की प्राप्ति स्थायी नहीं होती। उसकी अवधि तब तक होती है जब तक पुण्य का फल शेष रहता है।

मनुष्य स्वर्ग में तभी तक वास करता है जब तक उसके पुण्य बचे रहते हैं। इससे यह प्रकट है कि मनुष्य के जीवन में सुख अस्थायी होते हैं। सुख और दुःख मनुष्य को उसके

कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। । 482 ।

॥ यावत्पुण्यफलं तावदेव स्वर्गफलम् ॥

जब तक पुण्य का फल शेष रहता है तब तक मनुष्य स्वर्गरूपी फल अर्थात् सुख का भोग करता है। । 483 ।

॥ न च स्वर्गपतनात् परं दुःखम् ॥

भौतिक सुखों के नाश से बढ़कर साधारण मानव के लिए दूसरा कोई दुःख नहीं।

जब मनुष्य के भौतिक सुख समाप्त हो जाते हैं तो उसके दुखों की सीमा नहीं रहती। परंतु यह सब उसके कर्मों के कारण ही होता है। इसके साथ मनुष्य को सामान्य जीवन बिताते हुए अधिक सुखों की आशा में भी नहीं पड़ना चाहिए, जिससे सुखों की समाप्ति पर उसका जीवन दूभर न हो जाए। । 484 ।

॥ देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदं न वांछति ॥

प्राणी को देह से इतना लगाव होता है कि वह देह छोड़कर इंद्र का पद भी नहीं भोगना चाहता।

भावार्थ यह है कि मनुष्य अपने जीवन के वर्तमान काल में ही सुख की इच्छा करता है क्योंकि उसकी आसक्ति अपनी देह में होती है। वह अपनी देह को छोड़कर इंद्र-आसन प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता। मरने के बाद सुख की इच्छा काल्पनिक होती है। । 485 ।

॥ दुःखानामौषधं निर्वाणम् ॥

समस्त दुखों की औषधि मोक्ष है।

मनुष्य जब तक मन की इच्छाओं के बंधन में पड़ा रहता है तब तक दुःखों का अनुभव होता है। मन के बंधन से पूर्णतः मुक्त होना ही दुःखों से छुटकारा पाना है। अर्थात् मनुष्य जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तब उसके दुख स्वयं समाप्त हो जाते हैं। । 486 ।

॥ अनार्यसंबन्धादुत्तमार्यशत्रुता ॥

दुष्ट मनुष्य की मित्रता की अपेक्षा सज्जन व्यक्ति की शत्रुता अच्छी है।

आनार्य अर्थात् दुष्ट विचारों वाले दुराचारी, मायावी, कपटी व्यक्ति की मित्रता की अपेक्षा विवेक-संपन्न सदाचारी व्यक्ति का शत्रु होना अधिक अच्छा है। । 487 ।

॥ निहन्ति दुर्वचनं कुलम् ॥

दुर्वचनों से सारे कुल का नाश हो जाता है।

कठोर वचन बोलने वाला व्यक्ति कुल को कलंकित कर देता है जबकि अच्छी मधुरवाणी उच्च कुल के होने का प्रमाण देती है। मुख से वाणी निकलते ही सबसे पहले बोलनेवाले के कुल की मर्यादा का पता चलता है कि वह कैसे कुल में पैदा हुआ। इसीलिए व्यक्ति को अपने कुल के गौरव के लिए अच्छी और मधुर भाषा का प्रयोग करना चाहिए। अच्छे कुल का व्यक्ति यदि कुवाणी बोलता है तो यह उसके कुल के पतन का कारण होता है।
। 488 ।

॥ न पुत्रसंस्पर्शात् परं सुखम् ॥

पुत्र सुख से बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं।

पुत्र-लाभ को सांसारिक सुखों में सबसे अच्छा माना गया है। संभवतः विधाता ने इस सृष्टि की परंपरा को चलाने के लिए ही माता-पिता के मन में पुत्र-मोह पैदा किया। यदि माता-पिता को पुत्र से इस प्रकार का मोह न होता तो संभवतः सृष्टि की परंपरा का चलना असंभव हो जाता। । 489 ।

॥ विवादे धर्ममनुस्मरेत् ॥

विवाद के समय धर्म के अनुसार कार्य करना चाहिए।

चाणक्य का कहना है कि आपसी लड़ाई-झगड़े अथवा कलह के समय धर्म का ध्यान रखना चाहिए। धर्म को भूलना नहीं चाहिए। लड़ाई-झगड़े के समय भी जो व्यक्ति धर्म को याद रखते हैं, वे भयंकर पाप करने से बच जाते हैं। क्योंकि लड़ाई-झगड़े के समय मनुष्य क्रोध में आकर कुछ भी कर सकता है जिसके कारण बाद में उसे आयु भर पछताना पड़ता है। । 490 ।

॥ निशान्ते कार्यं चिन्तयेत् ॥

मनुष्य को नित्य प्रातःकाल दिन के कार्यों के संबंध में विचार करना चाहिए।

प्रातःकाल जब मनुष्य सोकर उठता है तो उसे इस बात पर विचार करना चाहिए कि दिन भर का कार्यक्रम क्या है। इस बात पर विचार करने से कार्यों के संबंध में दुविधा समाप्त हो जाती है और उसका सारा दिन निश्चित कार्यक्रम के अनुसार चलता रहता है। । 491 ।

॥ उपस्थितविनाशो दुर्नयं मन्यते ॥

जिसका विनाशकाल निकट होता है वह अनीति करने पर उतारू हो जाता है।

जिस मनुष्य के बुरे दिन आते हैं, वह अनीति पूर्ण कार्य करने लगता है। अनीति पूर्ण कार्यों से स्वयं ही उसका विनाश हो जाता है। । 492 ।

॥ क्षीरार्थिनः किं करिण्या ॥

दूध की इच्छा रखने वाले को हथिनी पालने की आवश्यकता नहीं होती।

दूध प्राप्त करने के लिए कोई हथिनी को नहीं पालता अर्थात् व्यर्थ के कर्म त्याग करने के योग्य होते हैं। मनुष्य को जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसी के अनुरूप कार्य करना चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि मनुष्य को केवल उपयोगी द्रव्यों का ही संचय करना चाहिए। व्यर्थ की चीजें बटोरने में अपनी शक्ति नष्ट नहीं करनी चाहिए। । 493 ।

॥ न दानसमं वश्यम् ॥

दान जैसा कोई वशीकरण मंत्र नहीं।

सदाचारी धनी लोग अपने धन का सदुपयोग समाज के कल्याण के लिए करते हैं। समाज के कल्याण के साथ-साथ उनके यश में भी वृद्धि होती है। जिन लोगों को उनके दान से लाभ होता है, वे सदैव ही उनके नाम से प्रभावित रहते हैं। उनका दान वशीकरण मंत्र के समान सिद्ध होता है। । 494 ।

॥ परायत्तेषूत्कण्ठां न कुर्यात् ॥

पराई वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

साधु-संतों का कहना है कि दूसरे के धन को मिट्टी के समान समझना चाहिए। अर्थात् जो पदार्थ दूसरों के पास है, उसे पाने के लिए उतावला नहीं होना चाहिए। उसे पाने के लिए अपनी शक्ति भी नहीं लगानी चाहिए। उतावलापन शक्ति की हीनता का द्योतक है। दूसरे के अधिकार में चली गई अपनी वस्तु की प्राप्ति के लिए भी धैर्यपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। । 495 ।

॥ असत्समृद्धिरसरिरेव भुज्यते ॥

दुर्जनों की समृद्धि का उपभोग दुर्जन लोग ही करते हैं।

दुष्ट लोग जो सम्पत्ति अथवा धन, दौलत इकट्ठा करते हैं, उसका उपयोग बुरे कामों के लिए होता है। । 496 ।

॥ निम्बफलं काकैर्भुज्यते ॥

नीम के फल को कौए ही खाते हैं।

जिस प्रकार नीम का कड़वा फल कौए जैसे पक्षियों के काम ही आता है, इसी प्रकार अशिष्ट उपायों से इकट्ठा किया हुआ धन चरित्रहीन लोगों के निंदित कार्यों के ही प्रयोग में आता है। इसीलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि उचित उपायों से धन का संग्रह करे जिससे उनकी उन्नति हो। । 497 ।

॥ नाम्भोधिस्तृष्णामपोहति ॥

समुद्र के खारे पानी से प्यास नहीं बुझती।

पाप की कमाई से कमाया हुआ धन किसी को संतुष्ट नहीं कर सकता। उसका अच्छे कामों में उपयोग भी असंभव ही होता है। निकृष्ट उपायों से संग्रह किया हुआ धन अंत में मनुष्य के अपने विनाश का कारण बनता है। । 498 ।

॥ बालुका अपि स्वगुणमाश्रयन्ते ॥

जिस प्रकार बालू या रेत अपने रूखे और कठोर स्वभाव को नहीं छोड़ पाता, इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते।

नीच अपने स्वभाव के कारण नीच उपायों से ही धन का संग्रह करता है और उसका उपयोग उसके अपने स्वभाव के कारण ही समाज-कल्याण के कार्यों में नहीं होता। उसका उपयोग बुरे कार्यों के लिए ही होता है। । 499 ।

॥ सन्तोऽसत्सु न रमन्ते ॥

सज्जन लोग दुर्जनों में रहकर आनंद (चैन) अनुभव नहीं करते।

मनुष्य समाज में रहने वाला प्राणी है, परंतु वह अपने जैसे विचारों वाले लोगों में ही रहता है। अंग्रेजी की एक कहावत है कि एक जैसे पक्षी ही इकट्ठे उड़ते हैं, इसी प्रकार भद्र मनुष्य भी भद्र लोगों के साथ रहना चाहते हैं।

इसका कारण यह भी है कि मनुष्य जैसे लोगों में रहता है, उसका स्वभाव भी वैसा बन जाता है। विपरीत स्वभाव के लोग आपस में प्रेम से मिलकर न कोई समाज-कल्याण का कार्य कर सकते हैं और न उन्नति कर सकते हैं। । 500 ।

॥ न हंसाः प्रेतवने रमन्ते ॥

हंस नामक पक्षी श्मशान में रहना पसंद नहीं करते।

जिस प्रकार हंस श्मशान में नहीं रहते, उसी प्रकार योग्य व्यक्ति अयोग्य व्यक्ति के

पास बैठना पसंद नहीं करते। गुणी व्यक्ति एकान्त में अज्ञात जीवन बिता देना तो स्वीकार कर लेते हैं, परंतु बुरी संगति में रहना कभी स्वीकार नहीं करते। । 501 ।

॥ अर्थार्थ प्रवर्तते लोकः ॥

सारा संसार धन के पीछे दौड़ता है अर्थात् धन के पीछे दुनिया पागल है। । 502 ।

॥ आशया बध्यते लोकः ॥

सभी सांसारिक प्राणी आशा के बन्धन से बंधे हुए हैं।

अविवेकशील मनुष्य कर्तव्य के बंधन में नहीं बल्कि आशा के बन्धन में बंधकर काम करता है। केवल आशा के कारण कार्य करने से उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती और उसका धैर्य नष्ट होने लगता है। वर्तमान का सही उपयोग न करके भविष्य की आशा पर रहना मन की हानिकारक दशा है। भावार्थ यह है कि मनुष्य को केवल आशा पर ही निर्भर न रहकर कर्तव्य का पालन करना चाहिए। । 503 ।

॥ न चाशापरैः श्रीः सह तिष्ठति ॥

केवल आशा में लगे पुरुष को लक्ष्मी नहीं मिलती।

केवल आशा के उतार-चढ़ाव में रहने वाला व्यक्ति श्रीहीन रहता है। जो कर्तव्य की उपेक्षा करके केवल आशा के बंधन में बंधे रहते हैं उन्हें निराशा के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता। मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव उत्साह से प्रसन्न रहता हुआ कर्तव्य का पालन करे। इसी से धन की प्राप्ति होती है। । 504 ।

॥ आशापरे न धैर्यम् ॥

आशावान् मनुष्य धैर्यशाली नहीं होता।

केवल आशा का दास बना मनुष्य अपना धैर्य खो बैठता है। उसमें स्थिर बुद्धि नहीं रहती। । 505 ।

॥ दैन्यान्मरणमुत्तमम् ॥

दरिद्र होकर जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है।

जो मनुष्य अपने को दीनहीन, निकम्मा और असहाय समझ लेता है, वह जीते हुए भी मरे के समान है। दीनता रहित जीवन बिताना मनुष्य की सार्थकता है। अपने आपको दीनहीन समझकर उत्साहहीन होना मृत्यु के समान है। । 506 ।

॥ आशा लज्जां व्यपोहति ॥

आशा के दास निर्लज्ज होते हैं।

आशा अर्थात् विषय-लोलुपता के कारण मनुष्य की लज्जा नष्ट हो जाती है। इसके कारण वह अनुचित कार्य करने लगता है और शिष्टाचार को छोड़ देता है अर्थात् आशा मनुष्य को निर्लज्ज बना देती है। । 507 ।

॥ आत्मा न स्तोतव्यः ॥

अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।

अपनी प्रशंसा के स्थान पर ऐसे आचरण की आवश्यकता है जिससे व्यक्ति की स्वयं प्रशंसा हो। जो व्यक्ति श्रोताओं के सामने अपनी प्रशंसा करता है, लोग उसे सुनकर व्यंग्य से मुस्कराते हैं। सज्जन व्यक्ति आत्मप्रशंसा से दूर रहते हैं। । 508 ।

॥ न दिवा स्वप्नं कुर्यात् ॥

दिन में सोना नहीं चाहिए।

दिन में सोने से कार्य की हानि होती है और शरीर में अपच, वायु-विकार आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। दिन में केवल अस्वस्थ व्यक्ति अथवा बालकों को सोना चाहिए। । 509 ।

॥ आयुः क्षयी दिवा निद्रा ॥

दिन में सोने से आयु कम होती है।

इसका कारण यह है कि जब मनुष्य सोता है तो उसकी सांस तेजी से चलने लगती है अर्थात् जागते समय वह जितनी भी सांसें लेता है, सोते समय उनकी संख्या में वृद्धि हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य की सांसें निश्चित हैं। इसीलिए दिन में सोना आयु-नाशक होता है। । 510 ।

॥ न चासन्नमपि पश्यत्यैश्वर्यान्धः न शृणोतीष्टम् ॥

अपने धन के नशे में अंधा व्यक्ति न तो अपने पास किसी वस्तु को देखता है और न ही हितकारी बात सुनता है।

मनुष्य के पास धन होना और धन के कारण अभिमान होना दोनों बातों में अंतर है। जिस व्यक्ति को अपने धन का अभिमान है उसे अपने हित-अहित का कोई ध्यान नहीं रहता।

वह अपने लिए उचित बातों की भी उपेक्षा करता है। बिहारी ने कहा है कि सोने का नशा धतूरे के नशे से भी अधिक मनुष्य का मानसिक संतुलन बिगाड़ने वाला है। । 511 ।

॥ स्त्रीणां न भर्तुः परं दैवतम् ॥

श्रेष्ठ स्त्री के लिए पति से बढ़कर और कोई देवता नहीं है। । 512 ।

॥ तदनुवर्तनमु भयसौख्यम् ॥

पति की इच्छा के अनुसार चलने वाली स्त्री को इहलोक और परलोक दोनों का सुख प्राप्त होता है। । 513 ।

॥ अतिथिमभ्यागतं पूजयेद्यथाविधिः ॥

अपने घर में आए अतिथि का विधिपूर्वक स्वागत करना चाहिए।

गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि अकस्मात् आने वाले अतिथि और समय निश्चित करके आने वाले अभ्यागत दोनों का यथोचित स्वागत-सत्कार करना चाहिए। । 514 ।

॥ नित्यं संविभागी स्यात् ॥

अपने उपार्जित धन में से दान को भी दैनिक कर्त्तव्य मानना चाहिए।

दान की महिमा का अनेक स्थानों पर वर्णन किया गया है। दान देने से धन नहीं घटता। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह जो कुछ उपार्जित करता है, उसमें से कुछ-न-कुछ ऐसे लोगों को देना चाहिए जिन्हें उसकी आवश्यकता होती है। । 515 ।

॥ नास्ति हव्यस्य व्याघातः ॥

देवताओं को नियमित दिया गया द्रव्य कभी भी नष्ट नहीं होता। अर्थात् योग्य पात्र को दिया गया दान कभी भी व्यर्थ नहीं जाता।

समाज के योग्य व्यक्तियों की सहायता करना भी समाज की सेवा है। जो व्यक्ति समाज-कल्याण में अपना मन लगाते हैं, वे अप्रत्यक्ष रूप से अपना ही कल्याण करते हैं। । 516 ।

॥ शत्रुरपि प्रमादी लोभात् ॥

लोभ देकर शत्रु को भी उसके लक्ष्य (शत्रुता) से भ्रष्ट किया जा सकता है।

शत्रु को हराने का लोभ भी एक उपाय है। शत्रु को किसी भी प्रकार के लोभ में डालकर उसे अपने लक्ष्य में भ्रष्ट किया जा सकता है, क्योंकि लोभ मनुष्य को निर्बल बना देता है। 517 ।

॥ शत्रुर्मित्रवत् प्रतिभाति ॥

बुद्धिभ्रंश शत्रु भी कभी-कभी मित्र के समान दिखाई देता है।

शत्रु मित्र के समान तभी दिखाई देता है जब लोभ के कारण उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। लोभ में पड़ने पर वह अपने शत्रु को भी अपना हित करने वाला मित्र प्रतीत होने लगता है। 518 ।

॥ मृगतृष्णा जलवद् भाति ॥

तृष्णा के कारण मृग चमकती हुई बालू को जल समझ बैठता है।

जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया, वही ठगा जाता है। मृगतृष्णा उसे कहते हैं जिसमें चमकती हुई रेत भी जल के समान दिखाई देती है और हिरण उधर भागता है परंतु उसे जल नहीं मिलता।

इसी प्रकार धूर्त लोग चिकनी-चुपड़ी बातें बनाकर लोगों को अपने लालच में फंसा लेते हैं। बुद्धिमत्ता इसी में है कि मनुष्य धूर्त लोगों के बहकावे में न आए। 519 ।

॥ उपालम्भो नास्त्यप्रणयेषु ॥

विनयरहित व्यक्ति को उलाहना देने से कोई लाभ नहीं होता।

अर्थात् उद्दंड मनुष्य को कठोर दंड द्वारा ही सही मार्ग पर लाया जा सकता है। । 520 ।

॥ दुर्मेध सामसच्छास्त्रं मोहयति ॥

बुद्धिहीन मनुष्य को निकृष्ट साहित्य भ्रष्ट बना देता है अर्थात् भ्रष्ट साहित्य उनके मन को मोह लेता है और वे भ्रष्ट मार्ग पर चलना प्रारंभ कर देते हैं। 521 ।

॥ सत्संगः स्वर्गवासः ॥

सत्संग ही स्वर्ग में रहने के समान है।

कष्टों से भरे इस संसार में संतों का समागम एक शीतल झरने के पास बैठने के समान है। सत्संग से मनुष्य को शान्ति प्राप्त होती है और वह धीरे-धीरे बुराई का मार्ग

छोड़कर भलाई की ओर चलता है। । 522 ।

॥ आर्यः स्वमिव परं मन्यते ॥

श्रेष्ठ व्यक्ति सबको अपने समान ही समझता है।

आर्य अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति उदार स्वभाव के होते हैं। वे दूसरों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं जैसा वे दूसरों से अपने साथ बर्ताव की आशा रखते हैं। । 523 ।

॥ रूपानुवर्ती गुणः ॥

रूप के अनुसार ही मनुष्य में गुण होते हैं।

गुणों का मनुष्य के हृदय से संबंध होता है। उसके मन में जैसे विचार होते हैं, वे उसके मुख पर स्पष्ट झलकते रहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य का जैसा रूप होता है वैसा ही गुण होता है।

प्रायः मनुष्य के रूप से ही उसके भीतर के शौर्य, धैर्य, शांति, संयम आदि गुण व्यक्त हो जाते हैं। पुरुषों को भांपने में पारंगत लोग मनुष्य को देखते ही उसके गुणों को भांप लेते हैं। । 524 ।

॥ यत्र सुखेन वर्तते तदेव स्थानम् ॥

जहां मनुष्य सुख से रह सके, उसके लिए वही उत्तम स्थान है। । 525 ।

॥ विश्वासघातिनो न निष्कृतिः ॥

विश्वासघाती मनुष्य का उद्धार करने के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं।

इस संसार में मनुष्य एक-दूसरे के विश्वास पर जीता है। जहां विश्वास समाप्त हो जाता है वहां जीवन दूभर हो जाता है। मित्रता का संबंध भी विश्वास पर आधारित है। जो मनुष्य विश्वासघात करता है, उसको इस पाप से किसी प्रायश्चित्त द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। । 526 ।

॥ दैवायत्तं न शोचेत् ॥

जो बात देव के अधीन है, उसके संबंध में चिंता अथवा सोच-विचार नहीं करना चाहिए।

मनुष्य के साथ प्रतिदिन ऐसी घटनाएं होती हैं जिन पर उसका कोई वश नहीं होता। परंतु वह यह जानते हुए भी उनके संबंध में चिंता करता रहता है। अनेक बार मनुष्य किसी

कार्य को करने के लिए सच्चे मन से प्रयत्न करता है परंतु उसमें सफलता प्राप्त नहीं होती। ऐसी स्थिति में मनुष्य को दैव के अधीन समझकर चिंता नहीं करनी चाहिए। । 527 ।

॥ आश्रितदुःखमात्मन इव मन्यते साधुः ॥

सज्जन व्यक्ति आश्रितों के दुःख को अपना दुःख समझते हैं।

सज्जन पुरुष अपने आश्रितों पर आये किसी दुःख को देखकर व्यक्तिगत रूप से उस दुःख को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। आश्रित पुरुषों के दुःख को अपना दुःख मानना सज्जन पुरुषों की सज्जनता अथवा महानता है। । 528 ।

॥ हृद्गतमाच्छाद्यान्यद्वदत्यनार्यः ॥

मन की वास्तविक बात को छिपाकर बनावटी बातें करने वाला अनार्य अर्थात् दुष्ट व्यक्ति होता है।

धोखा देने वाले दुष्ट लोग मन की दुष्टता को छिपाए रखते हैं और केवल वाणी से मीठी-मीठी बातें करते रहते हैं। कई बार उनकी मीठी बातों से सज्जन पुरुष धोखे में पड़ जाते हैं। दुष्ट लोगों की इस प्रकार की वाणी पर विश्वास नहीं करना चाहिए। जो विश्वास करता है वह हानि उठाता है। । 529 ।

॥ बुद्धिहीनः पिशाचादनन्यः ॥

बुद्धिहीन अर्थात् मूर्ख मनुष्य पिशाच के समान होता है।

बुद्धिहीन व्यक्ति घृणा का पात्र होता है। उसी बुद्धिहीन आचरण के कारण उसकी नीचता का प्रदर्शन होता रहता है। बुद्धिमान मनुष्य अपने हित को ध्यान में रखकर नीच व्यक्तियों को त्याग देता है परंतु बुद्धिहीन व्यक्ति से यह सब कुछ संभव नहीं। इसीलिए बुद्धिहीन व्यक्ति का समाज में कोई सम्मान नहीं होता। । 530 ।

॥ असहायः पथि न गच्छेत् ॥

सारथी के बिना यात्रा नहीं करनी चाहिए।

मनुष्य को किसी यात्रा में जाते समय आत्मरक्षा के साधन साथ में लेकर चलना चाहिए। उसे अपनी सहायता के लिए या तो अपने पास वैध शस्त्र रखने चाहिए अथवा अपने सहायकों के साथ यात्रा करनी चाहिए। । 531 ।

॥ पुत्रो न स्तोतव्यः ॥

अपने पुत्र की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।

जिस प्रकार अपनी प्रशंसा करना उचित नहीं, उसी प्रकार गुणी पुत्र की प्रशंसा करना भी पिता के लिए उचित नहीं। पिता का कर्तव्य है कि अपने पुत्र को उत्साहित करे परंतु पुत्र के गुणों का उल्लेख समाज में नहीं करना चाहिए। यह कार्य भी आत्म-प्रशंसा जैसा ही है जो उपहास का पात्र बना देता है। । 532 ।

॥ स्वामी स्तोतव्योऽनुजीविभिः ॥

सेवक लोगों को चाहिए कि वे अपने स्वामी का गुणगान करते रहें। । 533 ।

॥ धर्मकृत्येष्वपि स्वामिन एव घोषयेत् ॥

राज्य के अधिकारियों का कर्तव्य है कि राजा की आज्ञा से लोगों के हित के लिए किए गए कार्यों को अपना न बताकर अपने स्वामी अथवा राज्य-संस्था द्वारा किया गया बतायें। उनका कर्तव्य है कि राज्य में किए गये अच्छे कार्यों के लिए अपने आप को अधिकारी न मानें। । 534 ।

॥ राजाज्ञां नातिलंघयेत् ॥

राजा की आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए। । 535 ।

॥ स्वाम्यनुग्रही धर्मकृत्यं भृत्यानाम् ॥

अपने कर्तव्य पालन से स्वामी का अनुग्रह प्राप्त करना सेवकों का धर्म है। । 536 ।

॥ यथाऽऽज्ञप्तं तथा कुर्यात् ॥

राजा अथवा स्वामी की जैसी आज्ञा हो उसके अनुसार ही कार्य करना चाहिए। । 537 ।

॥ सविशेषं वा कुर्यात् ॥

विशेष कर्तव्यों को बिना पूछे तुरंत कर लेना चाहिए।

राज्य के श्रेष्ठ कर्मचारियों का कर्तव्य है कि जनता के हित के कार्यों में देरी न करें। देरी करने से जनता को तो हानि होती ही है, साथ ही राष्ट्र की उन्नति भी रुकती है। बुद्धिमान राजकर्मचारी अपनी योग्यता के अनुसार प्रशंसनीय कार्य करके राज्य का सम्मान प्राप्त कर सकते हैं। । 538 ।

॥ स्वामिनो भीरुः क्वोपयुज्यते ॥

राज्य सेवा में डरपोक और अकर्मण्य लोगों का कोई उपयोग नहीं होता। । 539 ।

॥ नास्त्यनार्यस्य कृपा ॥

दुष्ट व्यक्ति से किसी प्रकार की भलाई की आशा नहीं रखनी चाहिए। । 540 ।

॥ नास्ति बुद्धिमतां शत्रुः ॥

बुद्धिमान लोगों के शत्रु नहीं होते।

बुद्धिमान लोग यह बात समझते हैं कि मनुष्य अपना ही सबसे बड़ा शत्रु और अपना ही सबसे बड़ा मित्र होता है। ऐसा उनके विचारों के कारण ही माना जाता है। । 541 ।

॥ शत्रुं न निन्देत् सभायाम् ॥

सभा अथवा समाज में शत्रु की निंदा नहीं करनी चाहिए।

बुद्धिमान लोग सभा, गोष्ठी आदि में शत्रु की निंदा नहीं करते। वे व्यक्तिगत रूप से उनको अपमानित होने पर विवश करते हैं। इस प्रकार अपमानित होने पर वह शत्रुता रखने का विचार छोड़ देता है।

परंतु समाज में निंदित होने पर वह उसका प्रतिकार करने के लिए पहले से अधिक शत्रुता रखने लगता है। । 542 ।

॥ आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् ॥

अपनी किसी कमजोरी को उजागर न होने दें।

प्रायः सभी जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में कमजोरियां होती हैं परंतु उन कमजोरियों को शत्रु पर प्रकट नहीं होने देना चाहिए, उन्हें दूर रखने का प्रयास करना चाहिए। । 543 ।

॥ शक्तौ क्षमा श्लाघनीया ॥

अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के स्थान पर क्षमा का प्रदर्शन करना प्रशंसनीय कार्य है।

क्षमा करना शक्तिवान् को ही शोभा देता है, निर्बल को नहीं। सामर्थ्य होने पर भी जो किसी पर दया दिखाता है उसकी ही प्रशंसा होती है। । 544 ।

॥ क्षमावानेव सर्वं साधयति ॥

क्षमाशील मनुष्य अपने सब कार्य सिद्ध कर लेता है।

क्षमाशील मनुष्य में इतनी शक्ति होती है कि वह अपमान करने वाले की अवहेलना कर सकता है। धन-जन की हानि करने वाले को भी सहन कर सकता है। इस प्रकार वह अपने मार्ग में आने वाली कठिनाइयों की ओर ध्यान न देकर अपने कार्यों में लगा रहता है। वह निश्चित रूप से अपने सब कार्य पूर्ण कर लेता है। । 545 ।

॥ आपदर्थं धनं रक्षेत् ॥

आपातकाल के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए।

मनुष्य को किसी भी समय कोई आपत्ति अथवा कष्ट झेलना पड़ सकता है, परंतु सब कष्टों का निवारण धन से ही होता है। इसीलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी आय में से थोड़े धन की बचत करे। । 546 ।

॥ साहसवतां प्रियं कर्तव्यम् ॥

साहसी पुरुषों को अपना कर्तव्य प्रिय होता है।

साहसी पुरुष केवल अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देते हैं। वे असत्य का सदैव विरोध करते हैं। असत्य का सहारा लेने वाला व्यक्ति कभी विश्वसनीय नहीं हो सकता। असत्य को सत्य से ही परास्त किया जा सकता है। । 547 ।

॥ श्वः कार्यमद्य कुर्वीत ॥

जो कार्य कल करना है, उसे आज ही कर लेना चाहिए।

‘काल करे सो आज कर, आज करे सो अब’, वाली बात से सभी परिचित हैं। इसीलिए जो आवश्यक कर्तव्य है उनके प्रति टालमटोल नहीं करनी चाहिए। । 548 ।

॥ अपराह्निकं पूर्वाह्णा एवं कर्तव्यम् ॥

मध्याह्नोत्तर का काम दिन के प्रथम भाग में ही कर लेना चाहिए।

अपने कर्तव्य को अगले क्षण के लिए भी न टालकर उसी समय करना चाहिए। ।

549 ।

॥ व्यवहारानुलोमो धर्मः ॥

धर्म व्यावहारिक होना चाहिए। । 550 ।

॥ सर्वज्ञता लोकज्ञता ॥

अपनी बुद्धि से लोक चरित्र को समझना सर्वज्ञता कहलाती है।

लोगों के स्वभाव को समझ लेना ही सर्वज्ञता है। बुद्धिमान लोग अपने बुद्धिबल से घर बैठे ही संसार की समस्याओं को समझ लेते हैं। अपनी बुद्धि से सत्य और असत्य में भेद करते हुए अपना काम भली प्रकार सिद्ध कर लेते हैं। । 557 ।

॥ शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः ॥

शास्त्रों को जानने वाला होने पर भी जो मनुष्य लोक-व्यवहार को नहीं पहचान सकता, वह पढ़ा-लिखा होने पर भी मूर्ख के समान है।

जो मनुष्य लोक-चरित्र को नहीं समझ सकता, उसके संबंध में यही कहा जा सकता है कि वह शास्त्र को पूर्ण रूप से न जानने के कारण मूर्ख के समान है। शास्त्र-ज्ञान से मनुष्य में चातुर्य आता है और वह मनुष्य को समझने में सफल भी होता है। । 552 ।

॥ शास्त्रप्रयोजनं तत्त्वदर्शनम् ॥

यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति ही शास्त्र-ज्ञान का प्रयोजन है।

तत्त्वदर्शन अर्थात् लौकिक-अलौकिक पदार्थों के यथार्थ या रहस्य का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाना या करा देना ही शास्त्र की उपयोगिता है। शास्त्र से मनुष्य अच्छे-बुरे का ज्ञान प्राप्त कर अपने जीवन में आने वाली कठिनाइयों को सुविधापूर्वक हटा सकता है। । 553 ।

॥ तत्त्वज्ञानं कार्यमेव प्रकाशयति ॥

कार्य से ही यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अच्छे विचारों की शक्ति कर्तव्यरूपी कार्य को अपने ज्ञान की ज्योति से प्रकाशित कर देती है। कर्तव्य को दृढ़ बनाने में तत्त्वज्ञान सराहनीय सहयोग करता है। भावार्थ यही है कि तत्त्वज्ञान द्वारा ही किए गये कार्य सफल होते हैं। । 554 ।

॥ व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः ॥

न्याय-व्यवहार में पक्षपात नहीं करना चाहिए। । 555 ।

॥ धर्मादपि व्यवहारो गरीयान् ॥

व्यवहार धर्म से भी बड़ा होता है।

व्यवहार को धर्म का एक अंग माना जाता है। व्यवहार के बिना धर्म का प्रसार नहीं हो सकता। जिस धर्म में व्यवहार को प्रमुखता दी जाती है, उसी धर्म के लोग संसार में मुख्य माने जाते हैं। । 556 ।

॥ आत्मा हि व्यवहारस्य साक्षी ॥

आत्मा ही व्यवहार की साक्षी है।

यदि मनुष्य के मन में कोई पाप नहीं है तो वह व्यवहार-कुशल माना जाता है। यदि मनुष्य के मन में पाप है तो वह व्यवहार-कुशल नहीं हो सकता। समाज में उससे घृणा की जाती है। स्पष्ट है कि आत्मा ही व्यवहार का साक्षी होता है। इसीलिए आत्मा का स्वच्छ होना अति-आवश्यक है। । 557 ।

॥ सर्वसाक्षीह्यात्मा ॥

समस्त प्राणियों में आत्मा साक्षीरूप में विद्यमान रहती है।

सत्यस्वरूप आत्मा इस सकल जगत् के या इस मानव के जीवन व्यापी समस्त चरित्र को या तो सत्य होने का प्रमाणपत्र देकर साधुवाद देने या असत्य प्रमाणित करके धिक्कारने के लिए मानव-हृदय में साक्षी अर्थात् तटस्थ द्रष्टा बनकर बैठा है। । 558 ।

॥ न स्यात् कूटसाक्षी ॥

मनुष्य को कपट का समर्थक साक्षी नहीं होना चाहिए।

मनुष्य को अपने जीवन का एक सिद्धांत यह बनाना चाहिए कि वह झूठ का कभी समर्थन नहीं करेगा। मनुष्य को सदैव सत्य पर दृढ़ रहकर सत्य का ही समर्थन करना चाहिए। । 559 ।

॥ कूटसाक्षिणो नरके पतन्ति ॥

झूठ का समर्थन करने वाले लोग साक्षी नरक में जाते हैं।

अज्ञानी लोग ही झूठी बात को सच बनाने के लिए गवाही देने का काम करते हैं। इस प्रकार झूठ को सच बनाने वाले लोग जो लाभ उठाते हैं वह उनके लिए कलंक के समान होता है और वे सदैव दुख रूपी नरक में पड़े रहते हैं। । 560 ।

॥ नक्रश्चिन्नाशयति समुद्धरति वा ॥

किसी के विरुद्ध या उसके पक्ष में साक्षी देने वाला किसी अन्य व्यक्ति का न तो उद्धार करता है और न नाश करता है।

किसी के पक्ष में अथवा उसके विरुद्ध गवाही देने वाला किसी भी प्रकार से दोनों पक्षों के लिए लाभदायक या हानिप्रद नहीं होता। यह प्रभु की कृपा पर निर्भर रहता है कि किसका कल्याण होगा अथवा किसका विनाश। । 561 ।

॥ प्रच्छन्नपापानां साक्षिणो महाभूतानि ॥

छिपकर किये गये पापों के साक्षी पंचमहाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश होते हैं।

छिपकर किया गया पाप भी छिपा नहीं रहता। पाप के प्रकट होने का कारण पापी की आत्मा होती है, जिसके कारण उसका पाप उसके मुख अथवा कार्यों से प्रकट हो जाता है। अतः मनुष्य को पापी व्यक्ति की बजाय पाप से डरना चाहिए। । 562 ।

॥ आत्मनः पापमात्मैव प्रकाशयति ॥

पापी अपने पापों को अपने आप ही प्रकट करता है।

पाप करनेवाले के मन में सदैव अशांति बनी रहती है। उसका मन उसे बेचैन किए रहता है, जिसके कारण वह अपने पाप को प्रकट करने के लिए विवश हो जाता है। परंतु यह स्थिति तब होती है जब मनुष्य मृत्यु के द्वार पर खड़ा होता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह पाप से बचता रहे। । 563 ।

॥ व्यवहारेऽन्तर्गतमाकारः सूचयति ॥

व्यक्ति के मन में क्या है, यह उसके चेहरे से प्रकट होता है। । 564 ।

॥ आकारसंवरणं देवानामशक्यम् ॥

मनुष्य के मन के भावों को प्रकट करने वाली आकृति को देवता भी छिपाने में असमर्थ रहते हैं।

मनुष्य के मन के भाव उसके चेहरे पर प्रकट हो जाते हैं। साधारण मनुष्य तो क्या देवता भी उन्हें छिपाने में असमर्थ रहते हैं। मनुष्य की आकृति का संबंध मन के भावों से इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि उसे किसी भी प्रकार से छिपाकर नहीं रखा जा सकता। मन के भाव मुख पर अपने आप प्रकट हो ही जाते हैं। । 565 ।

॥ चोरराजपुरुषेभ्यो वित्तं रक्षेत् ॥

राजा को चोरों और राज्य कर्मचारियों से राष्ट्र के धन की रक्षा करनी चाहिए।

राजा का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे नियम बनाये कि जिससे चोर और राज्य के अधिकारी जनता के धन का हरण न कर सकें। प्रजा राजा पर विश्वास करती है और उसे अपना स्वामी समझती है। यदि वह प्रजा की संपत्ति की रक्षा नहीं कर सकता तो वह राजा को भी भ्रष्ट मान लेती है। । 566 ।

॥ दुर्दर्शना हि राजानः प्रजा नाशयन्ति ॥

जो राजा प्रजा को दर्शन नहीं देता, अर्थात् उनके दुःख-सुख में शरीक नहीं होता, ऐसे राजा को नष्ट करनेवाले अनेक व्यक्ति उत्पन्न हो जाते हैं।

राजा द्वारा प्रजा को दर्शन देने का भाव उनके कष्टों को सुनना और उनकी स्थिति जानने से है। जो राजा प्रजा से मिलता रहता है और उसकी उन्नति के लिए कार्य करता है, प्रजा उससे प्रेम करती है। राजा का कर्त्तव्य यह है कि वह प्रजा से मिलता रहे। । 567 ।

॥ सुदर्शना हि राजानः प्रजा रंजयन्ति ॥

जो राजा बराबर प्रजा के सुख-दुःख को सुनते हैं, उनसे प्रजा प्रसन्न रहती है।

राजा की लोकप्रियता तभी बढ़ती है जब वह अपने प्रजाजनो से मिलकर उनके कष्ट दूर करने का प्रयत्न करता है। राजा को चाहिए कि प्रजा से घनिष्ठ संबंध बनाए रखने के लिए उससे मिलता रहे। । 568 ।

॥ न्याययुक्तं राजानं मातरं मन्यन्ते प्रजाः ॥

न्यायपरायण राजा को प्रजा माता के समान मानती है।

जिस प्रकार माता अपनी संतान से एक जैसा व्यवहार करती है, उसी प्रकार न्याय करने वाले राजा को भी प्रजा अपनी माता के समान मानती है। । 569 ।

॥ तादृशः स राजा इह सुखं ततः स्वर्गमाप्नोति ॥

प्रजा-प्रिय राजा लौकिक और पारलौकिक स्वर्ग को प्राप्त करता है।

प्रजा का पालन करना राजा का धर्म है। प्रजा के साथ न्याय करनेवाले तथा धर्मपूर्वक शासन करनेवाले राजा को इस संसार में ही सुख प्राप्त होता है और प्रजा की आशीषों के कारण स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है। । 570 ।

॥ चोरांश्च कण्टकांश्च सततं विनाशयेत् ॥

राजा का कर्त्तव्य है कि वह चोरों, दुष्टों और राज कार्य में बाधा पहुंचाने वालों को समाप्त करता रहे। प्रजा की रक्षा के लिए राजा का कर्त्तव्य है कि वह लोगों को लूटनेवाले और राज्य के कामों में बाधा खड़ी करने वालों को नष्ट कर दे। । 571 ।

॥ अहिंसालक्षणो धर्मः ॥

अहिंसा ही धर्म का लक्षण है।

धर्म का प्रचार अहिंसा से ही होता है। हिंसा से उसके मार्ग में रुकावटें पैदा होती हैं। अहिंसा प्रेम का प्रतीक है अर्थात् अहिंसा को धर्म का प्रतीक मानना चाहिए। । 572 ।

॥ स्वशरीरमपि परशरीरं मन्यते साधुः ॥

सज्जन पुरुष पराये शरीर को अपना ही मानते हैं।

जो मनुष्य दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानता है, उसी को सज्जन पुरुष कहा जा सकता है। दूसरों के दुःख में काम आना सत्पुरुषों का लक्षण है। । 573 ।

॥ स्वशरीरमिव परशरीरं मन्यते साधुः ॥

सज्जन पुरुष दूसरे के शरीर को भी अपने शरीर जैसा मानते हैं।

अर्थात् वे दूसरों के कष्टों को भी अपना कष्ट समझकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। उक्त दोनों सूत्रों में समानता है। । 574 ।

॥ सर्वत्र मान्यं भ्रंशयति बालिशः ॥

मूर्ख और नीच व्यक्ति किसी दूसरे को महत्त्व दिया जाना पसंद नहीं करते। । 575 ।

॥ मांस भक्षणमयुक्तं सर्वेषाम् ॥

मांस खाना उचित आहार नहीं।

मनुष्य के लिए मांस खाना इसीलिए उचित नहीं क्योंकि उसके शरीर की रचना हिंसक पशुओं के शरीर की रचना से भिन्न है। वैसे मांस खाने का चलन सृष्टि के प्रारंभ से चला आ रहा है, परंतु है अनुचित। । 576 ।

॥ न संसारभयं ज्ञानवताम् ॥

ज्ञानी पुरुषों को संसार में किसी प्रकार का भय नहीं होता। । 577 ।

॥ विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते ॥

ब्रह्मज्ञानरूपी विज्ञान के दीपक से संसार के भय भाग जाते हैं।

ज्ञानरूपी दीपक के प्रकाश के कारण ज्ञानी मनुष्य पापरूपी अज्ञान में नहीं फंसते। ज्ञान के प्रकाश से ज्ञानी भयमुक्त रहते हैं। । 578 ।

॥ सर्वमनित्यं भवति ॥

इस संसार के सम्पूर्ण भौतिक सुख और उन सुखों को प्राप्त करने के साधन सभी अनित्य हैं। वे समय आने पर नष्ट हो जाते हैं केवल मनुष्य की आत्मा ही अमर रहती है। । 579 ।

॥ स्वदेहे देहिनां मतिर्महती ॥

देहधारियों द्वारा अपने शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्ति होती है।

देह में आसक्ति मनुष्य का अज्ञान है क्योंकि देह नष्ट होनेवाली वस्तु है, अजर और अमर तो आत्मा है। इसलिए पंचभूतों से बने इस शरीर में असीम अज्ञान है। । 580 ।

॥ कृमिशकृन्मूत्रभाजनं शरीरं पुण्यपापजन्महेतुः ॥

कृमि-कीट तथा मलमूत्र का घर यह शरीर पुण्य और पाप का भी जन्मस्थल है।

मनुष्य का शरीर मलमूत्र और अनेक रोगों का घर होने के बावजूद पाप-पुण्य का जन्मस्थल भी यही है।

इसी के द्वारा मनुष्य पाप भी कर सकता है और पुण्य भी। इसलिए देहधारियों का कर्तव्य है कि वे पुण्य कार्यों द्वारा अपने शरीर को उज्ज्वल बनायें। । 581 ।

॥ जन्ममरणादिषु दुःखमेव ॥

जन्म-मरण का यह बंधन दुःख का कारण है।

मनुष्य जन्म-मरण से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति का साधन यही है कि मनुष्य अच्छे कर्म करे। अच्छे कार्यों से ही निर्वाण प्राप्त होता है। । 582 ।

॥ तपसा स्वर्गमाप्नोति ॥

तप से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

जो मनुष्य अपनी इंद्रियों को वश में करके अपने कर्तव्य पूरे करता है, उसे इस लोक

और परलोक में सुख प्राप्त होता है। । 583 ।

॥ क्षमायुक्तस्य तपो विवर्धते ॥

क्षमाशील मनुष्य का तप बढ़ता रहता है।

जिस पुरुष की इंद्रियां अपने वश में हैं वही क्षमावान हो सकता है। । 584 ।

॥ तस्मात् सर्वेषां कार्यसिद्धिर्भवति ॥

तपश्चर्या से सबके कार्य सिद्ध होते हैं।

जितेंद्रिय मनुष्य अपने स्वार्थ को समाज-कल्याण के कार्यों में विलीन करके जो कुछ भी करता है, उसके कारण सब काम सिद्ध हो जाते हैं। । 585 ।



चाणक्य सूत्र

मूल पाठ

- 1 नमः शुक्रबृहस्पतिभ्याम्
- 2 पृथिव्या लाभे पालने च
यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः
प्रस्थापितानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।
- 3 सुखस्य मूलं धर्मः
- 4 धर्मस्य मूलमर्थः
- 5 अर्थस्य मूलं राज्यम्
- 6 राज्यस्यमूलमिन्द्रियजयः
- 7 इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः
- 8 विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा
- 9 वृद्धसेवया विज्ञानम्
- 10 विज्ञानेनात्मानं सम्पादयेत्
- 11 सम्पादितात्मा जितात्मा भवति
- 12 जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्येत्
- 13 अर्थसम्पत् प्रकृतिसम्पदं करोति
- 14 प्रकृति सम्पदा ह्यनायकमपि राज्यं नीयते
- 15 प्रकृति कोपः सर्वकोपेभ्यो गरीयान्
- 16 अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभः श्रेयान्
- 17 सम्पाद्यात्मानमन्विच्छेत् सहायवान्
- 18 नासहायस्य मन्त्रनिश्चयः
- 19 नैकं चक्रं परिभ्रमयति
- 20 सहायः समदुःखसुखः
- 21 मानी प्रतिमानिनमात्मनि द्वितीयं मन्त्रमुत्पादयेत्
- 22 अविनीतं स्नेहमात्रेण न मन्त्रे कुर्वीत
- 23 श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्यात्
- 24 मन्त्रमूलाः सर्वारम्भाः
- 25 मन्त्ररक्षणे कार्यं सिद्धिर्भवति
- 26 मन्त्रविस्रावी कार्यं नाशयति
- 27 प्रमादाद् द्विषतां वशमुपयास्यति
- 28 सर्वद्वारेभ्यो मन्त्रो रक्षितव्यः
- 29 मन्त्र सम्पदा हि राज्यं वर्धते
- 30 श्रेष्ठतमां मन्त्रगुप्तिमाहुः

- 31 कार्यान्धस्य प्रदीपो मन्त्रः
- 32 मन्त्रचक्षुषा परछिद्राण्यवलोकयन्ति
- 33 मन्त्रकाले न मत्सरः कर्तव्यः
- 34 त्रयाणामेकवाक्ये सम्प्रत्ययः
- 35 कार्याकार्यतत्त्वार्थदर्शिनो मन्त्रिणाः
- 36 षट्कर्णाद् भिद्यते मन्त्रः
- 37 आपत्सु स्नेहसंयुक्तं मित्रम्
- 38 मित्रसंग्रहणे बलं सम्पद्यते
- 39 बलवान् लब्धलाभे प्रयतते
- 40 अलब्धलाभो नालसस्य
- 41 अलसस्य लब्धमपि रक्षितुं न शक्यते
- 42 न चालसस्य रक्षितं विवर्धते
- 43 न भृत्यान् प्रेषयति
- 44 अलब्धलाभादि चतुष्टयं राज्यतन्त्रम्
- 45 राज्यतन्त्रायत्तं नीतिशास्त्रम्
- 46 राज्यतन्त्रेष्वायत्तौ तन्त्रावापौ
- 47 तन्त्रं स्वविषयकृत्येष्वायत्तम्
- 48 आवापो मण्डलनिविष्टः
- 49 सन्धिविग्रहयोर्निर्मण्डतः
- 50 नीतिशास्त्रानुगो राजा
- 51 अनन्तरप्रकृतिः शत्रुः
- 52 एकान्तरितं मित्रमिष्यते
- 53 हेतुतः शत्रु मित्रे भविष्यतः
- 54 हीयमानः सन्धिं कुर्वीत
- 55 तेजो हि सन्धानहेतुस्तदर्थानाम्
- 56 नातप्तलोहो लोहेन सन्धीयते
- 57 बलवान् हीनेन विग्रह्वीयात्
- 58 न ज्यायसा समेन वा
- 59 गजपादविग्रहमिव बलवद्विग्रहः
- 60 आमपात्रमामेन सह विनश्यति
- 61 अरिप्रयत्नमभिसमीक्षेत्
- 62 सन्धायैकतो वा
- 63 अरिविरोधादात्मरक्षामावसेत्
- 64 शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत्
- 65 दुर्बलाश्रयो दुःखमावहति

- 66 अग्निवद्राजानमाश्रयेत्
- 67 राज्ञः प्रतिकूलं नाचरेत्
- 68 उद्धतवेषधरो न भवेत्
- 69 न देवचरितं चरेत्
- 70 द्वयोरपीर्ष्यतोः द्वैधीभावं कुर्वीत
- 71 न व्यसनपरस्य कार्यावाप्तिः
- 72 इन्द्रियवशवर्ती चतुरंगवानपि विनश्यति
- 73 नास्ति कार्यं द्यूतप्रवृत्तस्य
- 74 मृगयापरस्य धर्मार्थौ विनश्यतः
- 75 अर्थेषणा न व्यसनेषु गण्यते
- 76 न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम्
- 77 अग्नि दाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम्
- 78 दण्डपारुष्यात् सर्वजनद्वेष्यो भवति
- 79 अर्थतोषिणं श्रीः परित्यजति
- 80 अमित्रो दण्डनीत्यामायत्तः
- 81 दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजाः संरक्षति
- 82 दंडः सम्पदां योजयति
- 83 दण्डाभावे मन्त्रिवर्गाभावः
- 84 न दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति
- 85 दण्डनीत्यामायतमात्मरक्षणम्
- 86 आत्मनि रक्षिते सर्वे रक्षितं भवति
- 87 आत्मायत्तौ वृद्धिविनाशौ
- 88 दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते
- 89 दुर्बलोऽपि राजा नावमन्तव्यः
- 90 नास्त्यग्नेर्दौर्बल्यम्
- 91 दण्डे प्रतीयते वृत्तिः
- 92 वृत्तिमूलमर्थलाभः
- 93 अर्थमूलौ धर्मकामौ
- 94 अर्थमूलं कार्यम्
- 95 यदल्यप्रयत्नात् कार्यसिद्धिर्भवति
- 96 उपायपूर्वं न दुष्करं स्यात्
- 97 अनुपायपूर्वं कार्यं कृतमपि विनश्यति
- 98 कार्यार्थिनामुपाय एव सहायः
- 99 कार्यं पुरुषकारेण लक्ष्यं सम्पद्यते
- 100 पुरुषकारमनुवर्तते दैवम्

- 101 दैवं विनातिप्रयत्नं करोति यत्तद्विफलम्
- 102 असमाहितस्य वृत्तिर्न विद्यते
- 103 पूर्वं निश्चित्य पश्चात् कार्यमारभेत्
- 104 कार्यान्तरे दीर्घसूत्रिता न कर्त्तव्या
- 105 न चलचित्तस्य कार्यावाप्तिः
- 106 हस्तगतावमाननात् कार्यव्यतिक्रमो भवति
- 107 दोषवर्जितानि कार्याणि दुर्लभानि
- 108 दुरनुबन्धं कार्यं नारभेत्
- 109 कालवित् कार्यं साधयेत्
- 110 कालातिक्रमात् काल एव फलं पिबति
- 111 क्षणं प्रति कालविक्षेपं न कुर्यात् सर्वकृत्येषु
- 112 देशफलविभागौ ज्ञात्वा कार्यमारभेत्
- 113 दैवहीनं कार्यं सुसाध्यमपि दुःसाध्यं भवति
- 114 नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत्
- 115 परीक्ष्यकारिणि श्रीश्वरं तिष्ठति
- 116 सर्वाश्च सम्पदः सर्वोपायेन परिग्रहेत्
- 117 भाग्यवन्तमपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति
- 118 ज्ञानेनानुमानैश्च परीक्षा कर्त्तव्या
- 119 यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः तं तस्मिन्नेव योजयेत्
- 120 दुःसाध्यमपि सुसाध्यं करोति उपायज्ञः
- 121 अज्ञानिना कृतमपि न बहु मन्तव्यम्
- 122 यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि करोति
- 123 सिद्धस्यैव कार्यस्थ प्रकाशनं कर्त्तव्यम्
- 124 ज्ञानवतामपि दैवमानुषदोषात् कार्याणि दुष्यन्ति
- 125 दैवं शान्तिकर्मणा प्रतिषेद्धव्यम्
- 126 मानुषीं कार्यविपत्तिं कौशलेन विनिवारयेत्
- 127 कार्यविपत्तौ दोषान् वर्णयन्ति बालिशाः
- 128 कार्यार्थिना दाक्षिण्यं न कर्त्तव्यम्
- 129 क्षीरार्थी वत्सो मातुरूधः प्रतिहन्ति
- 130 अप्रयत्नात् कार्यविपत्तिर्भवति
- 131 न दैवप्रमाणानां कार्यसिद्धिः
- 132 कार्यबाह्यो न पोषयत्याश्रितान्
- 133 यः कार्यं न पश्यति सोऽन्धः
- 134 प्रत्यक्षपरोक्षानुमानैः कार्याणि परीक्षेत्
- 135 अपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति

- 136 परीक्ष्य तार्या विपत्तिः
137 स्वशक्तिं ज्ञात्वा कार्यमारभेत्
138 स्वजनं तर्पयित्वा यः शेषभोजी सोऽमृतभोजी
139 सर्वानुष्ठानदायमुखानि वर्धन्ते
140 नास्ति भीरोः कार्यचिन्ता
141 स्वामिनः शीलं ज्ञात्वा कार्यार्थी कार्यं साधयति
142 धेनोः शीलज्ञः क्षीरं भुङ्क्ते
143 क्षुद्रे गुह्यप्रकाशनं आत्मवान्न कुर्वीत (कुर्यात्)
144 आश्रितैरप्यवमन्यते मृदुस्वभावः
145 तीक्ष्णदण्डः सर्वैरुद्वेजनीयो भवति
146 यथार्हदण्डकारी स्यात्
147 अल्पसारं श्रुतवन्तमपि न बहु मन्यते लोकः
148 अतिभारः पुरुषमवसादयति
149 यः संसदि परदोषं शंसति स स्वदोषबहुत्वं प्रख्यापयति
150 आत्मानमेव नाशयति अनात्मवतां कोपः
151 नास्त्यप्राप्यं सत्यवताम्
152 साहसेन न कार्यसिद्धिर्भवति
153 व्यसनार्तो विस्मरत्यप्रवेशेन
154 नास्त्यनन्तरायः कालविक्षेपे
155 असंशयविनाशात् संशयविनाशः श्रेयान्
156 अपरधनानि निक्षेप्तुः केवलं स्वार्थम्
157 दानं धर्मः
158 नार्यागतोऽर्थवद्विपरीतोऽनर्थभावः
159 यो धर्मार्थो न विवर्धयति स कामः
160 तद्विपरीतोऽनर्थसेवी
161 ऋजुस्वभावो जनेषु दुर्लभः
162 अवमानेनागतमैश्वर्यमवमन्यते साधुः
163 बहूनपि गुणानेको दोषो ग्रसते
164 महात्मना परेण साहसं न कर्त्तव्यम्
165 कदाचिदपि चरित्रं न लंघयेत्
166 क्षुधार्तो न तृणं चरति सिंहः
167 प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्यः
168 पिशुनः श्रोता पुत्रदारैरपि त्यज्यते
169 बालादप्यर्थजातं शृणुयात्
170 सत्यमप्यश्रद्धेयं न वदेत्

- 171 नाल्मदोषाद् बहुगुणास्त्यज्यन्ते
172 विपश्चित्स्वपि सुलभा दोषाः
173 नास्ति रत्नमखण्डितम्
174 मर्यादातीतं न कदाचिदपि विश्वसेत्
175 अप्रिये कृतं प्रियमपि द्वेष्यं भवति
176 न मन्त्यपि तुलाकोटिः कूपोदकक्षयं करोति
177 सतां मतं नातिक्रमेत्
178 गुणवदाश्रयान्निर्गुणोऽपि गुणी भवति
179 क्षीराश्रितं जलं क्षीरमेव भवति
180 मृत्पिण्डोऽपि पाटलिगन्धमुत्पादयति
181 रजतं कनकसंगात् कनकं भवति
182 उपकर्तर्यपकर्तुमिच्छत्यबधुः
183 न पापकर्मणामाक्रोशभयम्
184 उत्साहवतां शत्रवोऽपि वशीभवन्ति
185 विक्रमधना राजानः
186 नास्त्यलसस्यैहिकामुष्मिकम्
187 निरुत्साहाद्दैवं पतति
188 मात्स्यार्थीव (मत्स्यार्थिवज्) जलमुपयुत्यार्थं गृह्वणीयात्
189 अविश्वस्तेषु विश्वासो न कर्तव्यः
190 विषं विषमेव सर्वकालम्
191 अर्थसमादाने वैरिणां संग एव न कर्तव्यः
192 अर्थसिद्धौ वैरिणं न विश्वसेत्
193 अर्थाधीन एव नियतसम्बन्धः
194 शत्रोरपिसुतस्सखा रक्षितव्यः
195 यावच्छत्रोच्छिद्रं पश्यति तावद्धस्तेन वा स्कन्धेन वा वाह्यः
196 शत्रु छिद्रे परिहरेत्
197 आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत्
198 छिद्रप्रहारिणश्शत्रवः
199 हस्तगतमपि शत्रुं न विश्वसेत्
200 स्वजनस्य दुर्वृत्तं निवारयेत्
201 स्वजनावमानोऽपि मनस्विनां दुःखमावहति
202 एकांगदोषः पुरुषमवसादयति
203 शत्रुं जयति सुवृत्तता
204 निकृतिप्रिया नीचाः
205 नीचस्य मतिर्न दातव्या

- 206 तेषु विश्वासो न कर्त्तव्यः
207 सुपूजितोऽपि दुर्जनः पीडयत्येव
208 चन्दनादीनपि दावाग्निर्दहत्येव
209 कदापि पुरुषं नावमन्येत्
210 क्षन्तव्यमिति पुरुषं न बाधेत्
211 भर्त्राधिकं रहस्युक्तं वक्तुमिच्छन्त्यबुद्धयः
212 अनुरागस्तु फलेन सूच्यते
213 अज्ञाफलमैश्वर्यम्
214 दातव्यमपि बालिशः क्लेशेन परिदास्यति
215 महदैश्वर्यं प्राप्याप्यधृतिमान् विनश्यति
216 नास्त्यधृतेरैहिकामुष्मिकम्
217 न दुर्जनैः सह संसर्गः कर्त्तव्यः
218 शौण्डहस्तगतं पयोऽप्यवमन्येत्
219 कार्यसंकटेष्वर्थव्यवसायिनी बुद्धिः
220 मितभोजनं स्वास्थ्यम्
221 पथ्यमप्यपथ्याजीर्णं नाश्रीयात्
222 जीर्णभोजनं व्याधिर्नोपसर्पति
223 जीर्णशरीरे वर्धमानं व्याधिर्नोपेक्ष्येत्
224 अजीर्णं भोजनं दुःखम्
225 शत्रोरपि विशिष्यते व्याधिः
226 दानं निधानमनुगामि
227 पटुतरे तृष्णापरे सुलभमतिसन्धानम्
228 तृष्णाया मतिश्छाद्यते
229 कार्यबहुत्वे बहुफलमायतिकं कुर्यात्
230 स्वयमेवावस्कन्नं कार्यं निरीक्षेत
231 मूर्खेषु साहसं नियतम्
232 मूर्खेषु विवादो न कर्त्तव्यः
233 मूर्खेषु मूर्खवत् कथयेत्
234 आयसैरायसं छेद्यम्
235 नास्त्यधमितः सखा
236 धर्मेण धार्यते लोकः
237 प्रेतमपि धर्माधर्मावनुगच्छतः
238 दया धर्मस्य जन्मभूमिः
239 धर्ममूले सत्यदाने
240 धर्मेण जयति लोकान्

- 241 मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति
242 धर्माद्विपरीतं पापं यत्र प्रसज्यते तत्र धर्मावमतिर्महती प्रसज्येत
243 उपस्थितविनाशानां प्रकृत्याकारेण लक्ष्यते
244 आत्मविनाशं सूचयत्यधर्मबुद्धिः
245 पिशुनवादिनो रहस्यम्
246 पररहस्यं नैव श्रोतव्यम्
247 वल्लभस्य कारकत्वमधर्मयुक्तम्
248 स्वजनेष्वतिक्रमो न कर्त्तव्यः
249 मातापि दुष्टा त्याज्या
250 स्वहस्तोऽपि विषदिग्धश्छेद्यः
251 परोऽपि च हितो बन्धुः
252 कक्षादप्यौषधं गृह्यते
253 नास्ति चौरेषु विश्वासः
254 अप्रतीकारेष्वनादरो न कर्त्तव्यः
255 व्यसनं मनागपि बाधते
256 अमरवदर्थजातमर्जयेत्
257 अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः
258 महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहु मन्यते लोकः
259 दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणम्
260 विरूपोऽर्थवान् सुरूपः
261 अदातारमप्यर्थवन्तमर्थिनो न त्यजन्ति
262 अकुलीनोऽपि कुलीनाद्विशिष्टः
263 नास्त्यमानभयमनार्यस्य
264 न चेतनवतां वृत्तिभयम्
265 न जितेन्द्रियाणां विषयभयम्
266 न कृतार्थानां मरणभयम्
267 कस्यचिदर्थं स्वमिव मन्यते साधुः
268 परविभवेष्वादरो न कर्त्तव्यः
269 परविभवेष्वादरोपि विनाशमूलम्
270 पलालमपि परद्रव्यं न हर्तव्यम्
271 परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यनाशहेतुः
272 न चौर्यात् परं मृत्युपाशः
273 यवागूरपि प्राणधारणं करोति लोके
274 न मृतस्यौषधं प्रयोजनम्
275 समकाले स्वयमपि प्रभुत्वस्य प्रयोजनं भवति

- 276 नीचस्य विद्याः पापकर्मणि योजयन्ति
277 पयः पानमपि विषवर्धनं भुजंगस्य नामृतं स्यात्
278 नहि धान्यसमो ह्यर्थः
279 न क्षुधासमः शत्रुः
280 अकृतेर्नियता क्षुत्
281 नास्त्यभक्ष्यं क्षुधितस्य
282 इन्द्रियाणि जरावशं कुर्वन्ति
283 सानुक्रोशं भर्तारमाजीवेत्
284 लुब्धसेवी पावकेच्छया खद्योतं धमति
285 विशेषज्ञं स्वामिनमाश्रयेत्
286 पुरुषस्य मैथुनं जरा
287 स्त्रीणाममैथुनं जरा
288 न नीचोत्तमयोर्विवाहः
289 अगम्यागमनादायुर्यशः पुण्यानि क्षीयन्ते
290 नास्त्यहंकारसमः शत्रुः
291 संसदि शत्रुं न परिक्रोशेत्
292 शत्रु व्यसनं श्रवणसुखम्
293 अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते
294 हितमप्यधनस्यवाक्यं न शृणोति
295 अधनः स्वभार्ययाऽप्यवमन्यते
296 पुष्पहीनं सहकारमपि नोपासते भ्रमराः
297 विद्या धनमधनानाम्
298 विद्या चौरैरपि न ग्राह्या
299 विद्यया ख्यापिता ख्यातिः
300 यशः शरीरं न विनश्यति
301 यः परार्थमुपसर्पति स सत्पुरुषः
302 इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम्
303 अशास्त्रकार्यवृत्तौ शास्त्रांकुशं निवारयति
304 नीचस्य विद्या नोपेतव्या
305 म्लेच्छभाषणं न शिक्षेत्
306 म्लेच्छानामपि सुवृत्तं ग्राह्यम्
307 गुणे न मत्सरः कर्त्तव्यः
308 शत्रोरपि सुगुणो ग्राह्यः
309 विषादप्यमृतं ग्राह्यम्
310 अवस्थया पुरुषः सम्मान्यते

- 311 स्थान एव नराः पूज्यन्ते
312 आर्यवृत्तमनुतिष्ठेत्
313 कदापि मर्यादां नातिक्रमेत्
314 नास्त्यर्घः पुरुषरत्नस्य
315 न स्त्रीरत्नसमं रत्नम्
316 सुदुर्लभं रत्नम्
317 अयशो भयं भयेषु
318 नास्त्यलसस्य शास्त्राधिगमः
319 न स्त्रैणस्य स्वर्गाप्तिर्धर्मकृत्यं च
320 स्त्रियोऽपि स्त्रैणमवमन्यन्ते
321 न पुष्पार्थी सिंचति शुष्कतरुम्
322 अद्रव्यप्रयत्नो बालुकाक्वाथनादनन्यः
323 न महाजनहासः कर्तव्यः
324 कार्यसम्पदं निमित्तानि सूचयन्ति
325 नक्षत्रादपि निमित्तानि विशेषयन्ति
326 न त्वरितस्य नक्षत्रपरीक्षा
327 परिचये दोषा न छाद्यन्ते
328 स्वयमशुद्धः परानाशंकते
329 स्वभावो दुरतिक्रमः
330 अपराधानुरूपो दण्डः
331 कथानुरूपं प्रतिवचनम्
332 विभवानुरूपमाभरणम्
333 कुलानुरूपं वृत्तम्
334 कार्यानुरूपः प्रयत्नः
335 पात्रानुरूपं दानम्
336 वयोऽनुरूपो वेशः
337 स्वाम्यनुकूलो भृत्यः
338 भर्तृवशवर्तिनी भार्या
339 गुरुवशानुवर्ती शिष्यः
340 पितृवशानुवर्ती पुत्रः
341 अत्युपचारः शंकितव्यः
342 स्वामिनि कुपिते स्वामिनमेवानुवर्तेत
343 मातृताडितो वत्सो मातरमेवानुरोदिति
344 स्नेहवतः स्वल्पो हि रोषः
345 आत्मच्छिद्रं न पश्यति परच्छिद्रमेव पश्यति बालिशः

- 346 सोपचारः कैतवः
347 काम्यैर्विशेषैरुपचरणमुपचारः
348 चिरपरिचितानामत्युपचारः शंकितव्यः
349 गौर्दुष्करा श्वसहस्रादेकाकिनी श्रेयसी
350 श्वो मयूरादद्य कपोतो वरः
351 अतिप्रसंगो दोषमुत्पादयति
352 सर्वं जयत्यक्रोधः
353 यद्यपकारिणि कोपः कोपे कोप एव कर्त्तव्यः
354 मतिमत्सु मूर्ख-मित्र-गुरु-वल्लभेषु विवादो न कर्त्तव्यः
355 नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम्
356 नास्ति धनवतां सुकर्मसु श्रमः
357 नास्ति गतिश्रमो यानवताम्
358 अलोहमयं निगडं कलत्रम्
359 यो यस्मिन् कुशलः स तस्मिन् योक्तव्यः
360 दुष्कलत्रं मनस्विनां शरीरकर्शनम्
361 अप्रमत्तो दारान् निरीक्षेत्
362 स्त्रीषु किञ्चिदपि न विश्वसेत्
363 न समाधिः स्त्रीषु लोकज्ञता च
364 गुरूणां माता गरीयसी
365 सर्वावस्थासु माता भर्तव्या
366 वैदुष्यमलंकारेणाच्छाद्यते
367 स्त्रीणां भूषणं लज्जा
368 विप्राणां भूषणं वेदः
369 सर्वेषां भूषणं धर्मः
370 भूषणानां भूषणं सविनया विद्या
371 अनुपद्रवं देशमावसेत्
372 साधुजनबहुलो देशः
373 राज्ञो भेतव्यं सार्वकालम्
374 न राज्ञः परं दैवतम्
375 सुदूरमपि दहति राजवह्निः
376 रिक्तहस्तो न राजानमभिगच्छेत्
377 गुरुं च दैवं च
378 कुटुम्बिनो भेतव्यम्
379 गन्तव्यं च सदा राजकुलम्
380 राजपुरुषैः सम्बन्ध कुर्यात्

- 381 राजदासी न सेवितव्या
382 न चक्षुषापि राजधनं निरीक्षेत्
383 पुत्रे गुणवति कुटुम्बिनः स्वर्गः
384 पुत्रा विद्यानां पारं गमयितव्याः
385 जनपदार्थं ग्रामं त्यजेत्
386 ग्रामार्थं कुटुम्बस्त्यज्यते
387 अतिलाभः पुत्रलाभः
388 प्रायेण हि पुत्राः पितरमनुवर्तन्ते
389 दुर्गतेः पितरौ रक्षति सपुत्रः
390 कुलं प्रख्यापयति पुत्रः
391 येन तत्कुलं प्रख्यातं सः पुरुषः
392 नाऽनपत्यस्य स्वर्गः
393 या प्रसूते (सा) भार्या
394 सतीर्थाऽभिगमनाद् ब्रह्मचर्यं नश्यति
395 पुत्रार्था हि स्त्रियः
396 स्वदासीपरिग्रहो हि स्वदासभावः
397 उपस्थितविनाशः पथ्यवाक्यं न शृणोति
398 नास्ति देहिनां सुखदुःखाभावः
399 मातरमिव वत्साः सुखदुःखानि कर्तारमेवानुगच्छन्ति
400 तिलमात्रमप्युपकारं शैलमात्रं मन्यते साधुः
401 उपकारोऽनार्येष्वकर्तव्यः
402 प्रत्युपकारभयादनार्यः शत्रुर्भवति
403 स्वल्पमप्युपकारकृते प्रत्युपकारं कर्तुमार्यो न स्वपिति
404 न कदापि देवताऽवमन्तका
405 न चक्षुषः समं ज्योतिरस्ति
406 चक्षुर्हि शरीरिणां नेता
407 अपचक्षुषः किं शरीरेण
408 नाप्सु मूत्रं कुर्यात्
409 न नग्नो जलं प्रविशेत्
410 यथा शरीरं तथा ज्ञानम्
411 यथा बुद्धिस्तथा विभवः
412 अग्नावग्निं न निक्षिपेत्
413 तपस्विनः पूजनीयाः
414 परदारान् न गच्छेत्
415 अन्नदानं भूणहत्यामपि प्रमार्ष्टि

- 416 न वेदबाह्यो धर्मः
417 न कदाचिदपि धर्मं निषेधयेत्
418 स्वर्गं नयति सूनृतम्
419 नास्ति सत्यात्परं तपः
420 सत्यं स्वर्गस्य साधनम्
421 सत्येन धार्यते लोकः
422 सत्याद् देवो वर्षति
423 नानृतात्पातकं परम्
424 न मीमांस्या गुरवः
425 खलत्वं नोपेयात्
426 नास्ति खलस्य मित्रम्
427 लोकयात्रा दरिद्रं बाधते
428 अतिशूरो दानशूरः
429 गुरुदेवब्राह्मणेषु भक्तिभूषणम्
430 सर्वस्य भूषणं विनयः
431 अकुलीनोऽपि विनीतः कुलीनाद्विशिष्टः
432 आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च
433 प्रियमप्यहितं न वक्तव्यम्
434 बहुजन विरुद्धमेकं नानुवर्तेत्
435 न दुर्जनेषु भागधेयः कर्त्तव्यः
436 न कृतार्थेषु नीचेषु सम्बन्धः
437 ऋणशत्रुव्याधिष्वशेषः कर्त्तव्यः
438 भूत्यनुवर्तनं पुरुषस्य रसायनम्
439 नार्थिष्ववज्ञा कार्या
440 सुदुष्करं कर्म कारयित्वा कर्तारमवमन्यते नीचः
441 नाकृतज्ञस्य नरकान्निवर्तनम्
442 जिह्ववायत्तौ वृद्धिविनाशौ
443 विषामृतयोराकरो जिह्वा
444 प्रियवादिनो न शत्रुः
445 स्तुता अपि देवता स्तुष्यन्ति
446 अनृतमपि दुर्वचनं चिरं तिष्ठति
447 राजद्विष्टं न च वक्तव्यम्
448 श्रुतिसुखात्कोकिलालापान्तुष्यन्ति
449 स्वधर्महेतुः सत्युरुषः
450 नास्त्यर्थिनो गौरवम्

- 451 स्त्रीणां भूषणं सौभाग्यम्
452 शत्रोरपि न पतनीया वृत्तिः
453 अप्रयत्नादेकं क्षेत्रम्
454 एरण्डमवलम्ब्य कुंजरं न कोपयेत्
455 अतिप्रवृद्धा शाल्मली वारणस्तम्भो न भवति
456 अतिदीर्घऽपि कर्णिकारो न मुसली
457 अतिदीप्तोऽपि खद्योतो न पावकः
458 न प्रवृद्धत्वं गुणहेतुः
459 सुजीर्णोऽपि पिचुमन्दो न शंकुलायते
460 यथा बीजं तथा निष्पत्तिः
461 यथाश्रुतं तथा बुद्धिः
462 यथाकुलं तथाऽऽचारः
463 संस्कृतः पिचुमन्दो न सहकारो भवति
464 न चागतं सुखं परित्यजेत्
465 स्वयमेव दुःखमधिगच्छति
466 न रात्रिचारणं कुर्यात्
467 न चार्धरात्रं स्वपेयात्
468 तद्विद्वद्भिः परीक्षेत्
469 परगृहमकारणतो न प्रविशेत्
470 ज्ञात्वापि दोषमेव करोति लोकः
471 शास्त्रप्रधाना लोकवृत्तिः
472 शास्त्राभावे शिष्टाचारमनुगच्छेत्
473 नाचरिताच्छास्त्रं गरीयः
474 दूरस्थमपि चारचक्षुः पश्यति राजा
475 गतानुगतिको लोकः
476 यमनुजीवेत्तं नापवदेत्
477 तपःसार इन्द्रियनिग्रहः
478 दुर्लभः स्त्रीबन्धनान्मोक्षः
479 स्त्रीनाम सर्वाशुभानां क्षेत्रम्
480 अशुभद्वेषिणः स्त्रीषु न प्रसक्ताः (प्रसक्तिः)
481 यज्ञफलज्ञास्त्रिवेदविदः
482 स्वर्गस्थानं न शाश्वतम् (यावत्पुण्यफलम्)
483 यावत्पुण्यफलं तावदेव स्वर्गफलम्
484 न च स्वर्गपतनात् परं दुःखम्
485 देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदं न वाञ्छति

- 486 दुःखानामौषधं निर्वाणम्
487 अनार्यसंबन्धादुत्तमार्यशत्रुता
488 निहन्ति दुर्वचनं कुलम्
489 न पुत्रसंस्पर्शात् परं सुखम्
490 विवादे धर्ममनुस्मरेत्
491 निशान्ते कार्यं चिन्तयेत्
492 उपस्थितविनाशो दुर्नयं मन्यते
493 क्षीरार्थिनः किं करिण्या
494 न दानसमं वश्यम्
495 परायत्तेषूत्कण्ठां न कुर्यात्
496 असत्समृद्धिरसदिभरेव भुज्यते
497 निम्बफलं काकैर्भुज्यते
498 नाम्भोधिस्तृष्णामपोहति
499 बालुका अपि स्वगुणमाश्रयन्ते
500 सन्तोऽसत्सु न रमन्ते
501 न हंसाः प्रेतवने रमन्ते
502 अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः
503 आशया बध्यते लोकः
504 न चाशापरैः श्रीः सह तिष्ठति
505 आशापरे न धैर्यम्
506 दैन्यान्मरणमुत्तमम्
507 आशा लज्जां व्यपोहति
508 आत्मा न स्तोतव्यः
509 न दिवा स्वप्नं कुर्यात्
510 आयुः क्षयी दिवा निद्रा
511 न चासन्नमपि पश्यत्यैश्वर्यान्धः न शृणोतीष्टम्
512 स्त्रीणां न भर्तुः परं दैवतम्
513 तदनुवर्तनमुभयसौख्यम्
514 अतिथिमभ्यागतं पूजयेद्यथाविधिः
515 नित्यं संविभागी स्यात्
516 नास्ति हव्यस्य व्याघातः
517 शत्रुरपि प्रमादी लोभात्
518 शत्रुर्मित्रवत् प्रतिभाति
519 मृगतृष्णा जलवद् भाति
520 उपालम्भो नास्त्यप्रणयेषु

- 521 दुर्मेध सामसच्छास्त्रं मोहयति
522 सत्संगः स्वर्गवासः
523 आर्यः स्वमिव परं मन्यते
524 रूपानुवर्ती गुणः
525 यत्र सुखेन वर्तते तदेव स्थानम्
526 विश्वासघातिनो न निष्कृतिः
527 दैवायत्तं न शोचेत्
528 आश्रितदुःखमात्मन इव मन्यते साधुः
529 हृद्गतमाच्छाद्यान्यद्वदत्यनार्यः
530 बुद्धिहीनः पिशाचादनन्यः
531 असहायः पथि न गच्छेत्
532 पुत्रो न स्तोतव्यः
533 स्वामी स्तोतव्योऽनुजीविभिः
534 धर्मकृत्येष्वपि स्वामिन एव घोषयेत्
535 राजाज्ञां नातिलंघयेत्
536 स्वाम्यनुग्रही धर्मकृत्यं भृत्यानाम्
537 यथाऽऽज्ञप्तं तथा कुर्यात्
538 सविशेषं वा कुर्यात्
539 स्वामिनो भीरुः क्वोपयुज्यते
540 नास्त्यनार्यस्य कृपा
541 नास्ति बुद्धिमतां शत्रुः
542 शत्रुं न निन्देत् सभायाम्
543 आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत्
544 शक्तौ क्षमा श्लाघनीया
545 क्षमावानेव सर्वं साधयति
546 आपदर्थं धनं रक्षेत्
547 साहसवतां प्रियं कर्तव्यम्
548 श्वः कार्यमद्य कुर्वीत
549 अपराह्णिकं पूर्वाह्णा एवं कर्तव्यम्
550 व्यवहारानुलोमो धर्मः
551 सर्वज्ञता लोकज्ञता
552 शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः
553 शास्त्रप्रयोजनं तत्त्वदर्शनम्
554 तत्त्वज्ञानं कार्यमेव प्रकाशयति
555 व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**



KAPWING



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

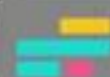
Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**



KAPWING

- 556 धर्मादपि व्यवहारो गरीयान्
557 आत्मा हि व्यवहारस्य साक्षी
558 सर्वसाक्षीह्यात्मा
559 न स्यात् कूटसाक्षी
560 कूटसाक्षिणो नरके पतन्ति
561 नक्रश्चिन्नाशयति समुद्धरति वा
562 प्रच्छन्नपापानां साक्षिणो महाभूतानि
563 आत्मनः पापमात्मैव प्रकाशयति
564 व्यवहारेऽन्तर्गतमाकारः सूचयति
565 आकारसंवरणं देवानामशक्यम्
566 चोरराजपुरुषेभ्यो वित्तं रक्षेत्
567 दुर्दर्शना हि राजानः प्रजा नाशयन्ति
568 सुदर्शना हि राजानः प्रजा रंजयन्ति
569 न्याययुक्तं राजानं मातरं मन्यन्ते प्रजाः
570 तादृशः स राजा इह सुखं ततः स्वर्गमाप्नोति
571 चोरांश्च कण्टकांश्च सततं विनाशयेत्
572 अहिंसालक्षणो धर्मः
573 स्वशरीरमपि परशरीरं मन्यते साधुः
574 स्वशरीरमिव परशरीरं मन्यते साधुः
575 सर्वत्र मान्यं भ्रंशयति बालिशः
576 मांसं भक्षणमयुक्तं सर्वेषाम्
577 न संसारभयं ज्ञानवताम्
578 विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते
579 सर्वमनित्यं भवति
580 स्वदेहे देहिनां मतिर्महती
581 कृमिशकृन्मूत्रभाजनं शरीरं पुण्यपापजन्महेतुः
582 जन्ममरणादिषु दुःखमेव
583 तपसा स्वर्गमाप्नोति
584 क्षमायुक्तस्य तपो विवर्धते
585 तस्मात् सर्वेषां कार्यसिद्धिर्भवति